संस्कृत कवियों की अनोखी सूझ

जनार्दन भट्ट

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२६-ए, चन्द्रलोक, जवाहरनगर, दिल्ली
बिक्री केन्द्र : नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण,
जनवरी, १९६३

मूल्य :
चार रुपए

मुद्रक
सत्यपाल भवन
दी सैण्ट्रल इलैक्ट्रिक प्रेस,
८०-डी, कमला नगर, दिल्ली।

निवेदन

काव्य की परिभाषा संस्कृत के भिन्न-भिन्न कवियो, विद्वानो और साहित्यकारो ने अपने-अपने ढग पर अलग-अलग की है। किसी ने काव्य की उपमा सर्वालंकार-विभूषिता मनोरमा सुन्दरी स्त्री से दी है, जिसका शरीर शब्द और अर्थ, जिसका आत्मा रस और जिसके आभूषण उपमा, अनुप्रास आदि अलकार हैं। किसी ने रस को काव्य का प्राण माना है। बिना रस के काव्य वैसा ही निर्जीव है जैसे बिना प्राण के शरीर। किसी ने ध्वनि को ही काव्य का आत्मा स्वीकार किया है। किसी ने काव्य के गुणो से युक्त तथा काव्य के दोषो से मुक्त, शब्द और अर्थ के समूह को, काव्य की पदवी दी है। किसी ने रमणीय अर्थ के देनेवाले शब्दो को ही काव्य कहा है। किसी ने औचित्य (propriety) अर्थात् शब्दो के उचित प्रयोग को ही काव्य का मुख्य तत्व माना है। किसी ने काव्य मे अलकारो को ही सबसे अधिक महत्व दिया है, इत्यादि।

किन्तु काव्य की परिभाषा या व्याख्या जो भी हो, सबका तोड इस बात पर है कि उत्तम काव्य वही है जिसमे कोई चमत्कार हो, कोई विचित्रता हो, कोई अनोखापन हो, कहने का ढग नया हो, केवल पिष्टपेषण या तुकबन्दी मात्र न हो। आँख सबके है पर चितवन मे भेद है। आँख मे जो चितवन है वही काव्य मे चमत्कार या अनोखापन है। इसी दृष्टि को लेकर ही मैंने इस पुस्तक मे अनोखी सूझ के कुछ संस्कृत श्लोको का

संग्रह किया है। यदि इससे रसिक पाठकों का मनोरंजन हुआ और संस्कृत काव्य के प्रति लोगों की रुचि बढ़ी, तो मैं अपना प्रयास सार्थक समझूंगा।

लगभग चालीस वर्ष हुए इसी प्रकार का और इसी नाम से मेरा एक छोटा-सा मनोरंजक श्लोकों का संग्रह, कलकत्ते में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी द्वारा प्रकाशित हुआ था। उस समय उस-पर स्व० आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी जो बहुमूल्य सम्मति प्रदान की थी, नीचे अन्यत्र दी गयी है। यह वर्तमान संग्रह उसी छोटी-सी पुस्तक का परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप है।

—जनार्दन भट्ट

स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की सम्मति

इस संग्रह की सैर करके मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। प्रायः सभी श्लोक अनोखे हैं और अनेक विषयों के हैं। शृंगार-रस की उक्तियाँ अनोखी होने पर भी उद्वेगजनक नहीं। भावार्थ लिख देने से केवल हिन्दी जाननेवाले भी इससे आनन्दप्राप्ति कर सकेंगे। श्लोक कण्ठ करने लायक हैं। लोगों की रुचि संस्कृत की ओर बढ रही है। इस दशा मे, आशा है, सभी सर्वसाधारण जन इसे बहुत पसन्द करेंगे। यह मेरी सच्ची राय है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ
१. पूव	पूर्व	१५
२. छाया	छायाः	३४
३. हेमन्ती	हेमन्त	४४
४. जगदिदिमहो	जगदिदमहो	६२
५. कलीन	कुलीन	७०
६. करने भी	करने पर भी	८६
७. आंस	आसू	६३
८. भ्रूतुलामेतु	भ्रू तुलामेतु	१०५
६. हिमाशो :	हिमांशो :	१०७
१०. क वृत्तान्तं	किं वृत्तान्तः	१२०
११. सित	सित	१२१
१२. जाता	जाना	१४६
१३. प्रवेष्टिनम्	आवेष्टिनम्	१६१
१४. यचनीयमात्र	यचनीयमत्र	१६१
१५. पतितोऽपि	पातितोऽपि	१८४
१६. नटः	नर	१६०
१७. तावदुपमदमहागु	तावदुपमर्दसहागु	२०७

संस्कृत कवियों
की
अनोखी सूझ

मंगलाचरण

१

जेतुं यस्त्रिपुरं हरेण हरिणा व्याजाद्‌बलिं बध्नता
स्रष्टुं वारिभवोद्‌भवेन भुवनं शेषेण धर्तुं धराम् ।
पार्वत्या महिषासुरप्रमथने सिद्धाधिपैः सिद्धये
ध्यातः पंचशरेण विश्वविजये पायात्स नागाननः ॥

भावार्थः—भगवान् शकर ने त्रिपुरासुर को विजय करते समय, विष्णु ने छल से राजा बलि को बाँधते समय, ब्रह्मा ने सृष्टि का निर्माण करते समय, शेषनाग ने पृथ्वी को अपने मस्तक पर धारण करते समय, पार्वती ने महिषासुर का मर्दन करते समय, सिद्धाधिपों ने सिद्धि को प्राप्त करने के लिए तथा कामदेव ने विश्व को विजय करने के समय जिन गणेश जी का ध्यान किया था, उन गणेश जी को नमस्कार है। ऐसे गणेश जी हमारी आपकी और सबकी रक्षा करें।

२

हृदयं कौस्तुभोद्‌भासि हरेः पुष्णातु वः श्रियम् ।
राधाप्रवेशरोधाय दत्तमुद्रमिव श्रिया ॥

भावार्थः—भगवान् विष्णु का यह हृदय आपकी श्री की

वृद्धि करे, जो कौस्तुभ मणि से अलकृत होकर अपनी छटा चारो ओर फैला रहा है। इस पर कवि की कल्पना है कि यह कौस्तुभ मणि नही है, वरन् मुहर की एक छाप है, जो लक्ष्मी ने विष्णु के हृदय पर इसलिये लगा दी है कि इस हृदय पर मेरा ही एकाधिकार रहे, मेरी सौत राधा इसके अन्दर कभी भी प्रवेश न पा सके।

३

पातु वो नीलकण्ठस्य कण्ठः श्यामांबुदोपमः ।
गौरीभुजलता यत्र विद्युल्लेखेव राजते ॥

भावार्थ —नीलकण्ठ महादेव का काले मेघ के समान नीला कण्ठ आपकी रक्षा करे, जिस कण्ठ पर पार्वती की सुकुमार गोरी भुज-लता बिजली की रेखा के सदृश चमक रही है। महादेव के नीले कण्ठ की उपमा काले मेघ से और पार्वती की भुजा को उपमा बिजली की रेखा से दी गई है। जिस प्रकार काले मेघ मे बिजली चमकती हुई शोभायमान होती है, उसी प्रकार महादेव जी के नीले कण्ठ पर पड़ी हुई पार्वती की चमकती हुई भुज-लता सुशोभित हो रही है।

४

विहाय पीयूषरसं मुनीश्वराः ममांऽघ्रिराजीवरस पिबन्ति किम् ।
इति स्वपादाम्बुजपानकौतुकी स गोपबालः श्रियमातनोतु वः ॥

भावार्थः—शिशु गोपाल अपने पैर का अगूठा चूस रहे हैं—इस पर किसी कवि की अनोखी सूझ है—'बड़े-बड़े ऋषि-मुनि

अमृतरस के पान को छोड़कर मेरे चरणकमल के रस को क्यों पिया करते हैं, देखें इसका स्वाद कैसा है?'—इसी बात को जानने की इच्छा से ही मानो बालक कृष्ण अपना पैर मुख में रखकर चूस रहे हैं। ऐसे बालक कृष्ण आपका मंगल करें।

५

मातः किं यदुनाथ देहि चषकं किं तेन पातुं पयः
तन्नास्त्यद्य कदास्ति वा निशि निशा का वान्धकारोदये।
आमील्याक्षियुगं निशाप्युपगता देहीति मातुर्मुहुः
वक्षोजांशुककर्षणोद्यतकरः कृष्णः स पुष्णातु वः॥

भावार्थः—यशोदा कृष्ण को नियमित समय के अनुसार ही अपने स्तनों से दूध पिलाती थी। एक दिन कृष्ण ने अनियमित समय में दूध पीने की माँग की। इस पर देखिये यशोदा और कृष्ण का प्रश्नोत्तर कैसा सुन्दर है :—

कृष्ण—"माँ!" यशोदा—"क्या यदुनाथ?" कृष्ण—"दूध पिलाओ।" यशोदा—"अभी नहीं।" कृष्ण—"फिर कब?" यशोदा—"रात को।" कृष्ण—"रात कब होती है?" यशोदा—"जब अन्धेरा हो जाता है।" इस पर कृष्ण अपनी आँख बन्द कर लेते हैं और माता के स्तन पर से वस्त्र को बार-बार खींचते हुए कहते हैं—"माँ, देखो! रात आ गई है और अन्धेरा हो गया है, अब दूध पिलाओ।" इस प्रकार बाल-लीला करते हुए कृष्ण भगवान् आपके सुख और सौभाग्य को बढ़ायें।

६

कृष्णेनाम्ब गतेन रन्तुमधुना मृद्भक्षिता स्वेच्छया
सत्यं कृष्ण किमेप आह मुसली मिथ्याम्ब पश्याननम् ।
व्यादेहीति विकासिते च वदने दृष्ट्वा समस्तं जगत्
माता यस्य जगाम विस्मयपदं पायात्स वः श्रीपतिः ॥

भावार्थः—कृष्ण और बलदेव दोनो खेलने के लिए बाहर गये। वहाँ कृष्ण ने मनमानो मिट्टी खाई। लौटने पर बलदेव ने माँ से चुगली खाई कि "माँ, आज खेलने के लिए गये थे, वहाँ कृष्ण ने खूब मिट्टी खाई थी।" इस पर माँ यशोदा ने पूछा —"कृष्ण, देखो बलदेव क्या कह रहा है, क्या यह सच है ?" कृष्ण—"झूठ है, मेरा मुख देख सकती हो।" यशोदा—"अच्छा मुँह बाओ।" इस पर कृष्ण ने जो मुख खोला तो उसमे समस्त जगत् को देखकर जिसकी माता आश्चर्य से चकित हो गई, ऐसे लक्ष्मीपति कृष्ण आपकी रक्षा करें।

७

स्वस्ति स्वागतमर्थ्यहं वद विभो किं दीयतां मेदिनी
का मात्रा मम विक्रमत्रयपदं दत्तं जलं दीयताम्।
मा देहीत्युशनाब्रवीद्धरिरयं पात्रं किमस्मात्परं
चेत्येवं बलिनार्चितो मखमुखे पायात्स वो वामनः ॥

भावार्थ —इस श्लोक मे बलि और वामन का संवाद बहुत सुन्दर है :—

वामन—"राजन् ! आपका कल्याण हो !"
बलि—"भगवन् ! आपका स्वागत है !"
वामन—"मैं याचक हूँ, माँगने आया हूँ।"
बलि—"भगवन् ! कहिये क्या दूँ ?"
वामन—"पृथ्वी।"
बलि—"कितनी ?"
वामन—"मेरे तीन पग के बराबर।"

तब बलि के गुरु शुक्राचार्य ने वर्जित किया कि "मत दो, यह तो विष्णु हैं।" इस पर बलि ने कहा—"यदि ऐसी बात है तो फिर, इनसे बढ़कर देने के लिए और कौन पात्र होगा।" इस प्रकार बलि के यज्ञ में सबके आगे पूजे गये वामनावतार आपकी रक्षा करें।

८

पाणिग्रहे पुलकितं वपुरैशं भूतिभूषितं जयति।
अंकुरित इव मनोभूर्यस्मिन् भस्मावशेषोऽपि॥

भावार्थ —विवाह के समय जब भगवान् शिव ने पार्वती का पाणिग्रहण किया तो पार्वती के स्पर्श मात्र से उनका भस्म से विभूषित शरीर पुलकित हो गया। इस पर कवि कहता है कि कामदेव जो शिव के तीसरे नेत्र से जलकर भस्मीभूत हो गया था, वही कामदेव भगवान् के शरीर में पुलकावली के रूप में मानो फिर से अंकुरित हो गया है। ऐसा भगवान् का पुलकित शरीर आपका मंगल करे।

भक्तों के हृदयोद्गार

९

क्षीरसारमपहृत्य शंकया स्वीकृत यदि पलायनं त्वया ।
मानसे मम नितान्ततामसे नन्दनन्दन कथं न लीयसे ।।

भावार्थ —मक्खन चुराकर बालक कृष्ण किसी एकान्त अन्धेरे स्थान मे छिपने के लिए भागे जा रहे हैं। उन्हें सबोधन कर के एक कृष्ण का भक्त कहता है—"हे नन्द-नन्दन ! मक्खन चुरा कर डर के मारे भागकर, किसी एकान्त अधेरे स्थान मे छिपना चाहते हो तो मेरे उस मन मे आकर क्यो नही छिप जाते, जिस मे मोह और अज्ञान का घोर अन्धकार भरा हुआ है ? ऐसा अन्धकारमय स्थान छिपने के लिए तुम्हे कही नहीं मिलेगा ।"

१०

रत्नाकरस्तव गृह गृहिणी च पद्मा
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय ।
राधागृहीतमनसः मनसोऽस्ति दैन्यं
तन्मे गृहाण पदपंकजमर्पितं ते ।।

भावार्थ —विष्णु का एक भक्त विष्णु को सबोधन करके

कहता है—"समुद्र जो रत्नो का खजाना है, वह आपका निवास स्थान है , साक्षात् लक्ष्मी आपकी घरवाली है और आप स्वयं तीनो लोको के स्वामी हैं , भला मैं आपको क्या दे सकता हूँ ? पर हाँ, एक चीज आप के पास नही है, और उसे मैं आपको देने मे समर्थ हूँ । मन आपके पास नही है, क्योकि आपके मन को राधा ने चुरा लिया है । तो फिर आप मेरे उस मन को क्यो नही ले लेते ? जिसे मैंने कितनो दिनो से आपके चरण कमलो मे अर्पित कर रखा है ।"

११

नितरां विनयेन पृच्छते सुविचार्योत्तरमत्र यच्छ मे ।
करितो गिरितोऽप्यहं गुरुस्त्वरितो नोद्धरसे यदद्य माम् ॥

भावार्थ —एक विष्णु का भक्त विष्णु को सबोधन करके कहता है—"बहुत ही विनयपूर्वक मैं एक बात आपसे पूछता हूँ । कृपया बहुत सोच विचार करके उत्तर दीजियेगा । आपने गज का उद्धार किया था और गोवर्द्धन पर्वत को हाथ पर उठा लिया था । क्या मैं गज से और गोवर्द्धन पर्वत से भी भारी हूँ कि मेरा उद्धार नही कर लेते ? मुझे उठा नही लेते ?"

१२

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पय.
स्वर्यातेन सुधाप्यधायि कतिधा रम्भाधर. खण्डित.।
सत्यं ब्रूहि मदीय जीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षित ॥

भावार्थः—कृष्ण का एक भक्त अपने प्राणों को सम्बोधन करके कहता है—हे मेरे प्राण, तुमने दाख (अंगूर) भी चखा होगा, तुमने मिश्री के टोरें भी खाये होगे, तुमने औटाया हुआ दूध भी पिया होगा, चौरासी लाख योनि मे तुम कभी स्वर्ग भी गये होगे और वहाँ अमृत का स्वाद भी लिया होगा और रंभा आदि अप्सराओ के अधरामृत का पान भी किया होगा। पर सच-सच बताओ इस ससार मे बार-बार जन्म ले कर भ्रमण करते हुए तुमने "कृष्ण" इन दो अक्षरो मे जो मिठास है, ऐसी मिठास कही पायी है? पण्डितराज जगन्नाथ के इस श्लोक का हिन्दी पद्यानुवाद एक कवि ने इस प्रकार किया है—

चाख्यो मिशिरी को अरु, पान कियो स्वच्छ दूध,
त्योंही परिपूरन सुदाख हू को खायो तू।
जाय सुरलोक मध्य अमृत पियो है पुनि,
कैयो बार रंभा को अधर खडि आयो तू।
अब हू तो साची बात कहुरे हमारो जीव,
विप्रचन्द जग बीच बार बार आयो तू।
कृष्ण या युगल वर्ण माधुरी प्रवाह सम
अद्भुत माधुरी कबहू कहु पायो तू ॥

१३

क्षालयामि तव पादपंकजं नाथ दारुदृषदोः किमन्तरं।
मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते पादयोरिति कथा प्रथीयसी॥
पादाम्बुजं ते विमलं हि कृत्वा पश्चात्परं तीरमहं नयामि।
नो चेत्तरी सद्युवती मलेन स्याच्चेद्विभो विद्धि कुटुम्बहानिः॥

भावार्थ —नौका के द्वारा गगा पार करने के लिए आये हुए भगवान् रामचन्द्र से मल्लाह कहता है—' हे भगवन्, मैं पहले आपके चरणकमल को धोना चाहता हूँ। ऐसा कहा जाता है कि आपके चरणों की धूलि मे ऐसी शक्ति है कि वह पत्थर को स्त्री बना देती है। आपने एक पत्थर को ही तो अहिल्या बना दिया था। मेरी नौका पत्थर की तो नही, परन्तु काठ की है। पर पत्थर और काठ मे भेद ही कितना है ? इसलिये मैं पहले आपके पैर धोऊगा, तब उसके बाद ही आपको पार ले जाऊँगा। नही तो कही आपके चरणो की धूलि से मेरी नौका स्त्री हो गई, तो बताओ मैं अपने कुटुम्ब का पालन कैसे करूँगा ? तुलसीदास की नीचे लिखी कवित्त इसी भाव की है—

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे-बारे,
केवट की जाति, कछु वेद न पढाइहौं।
सब परिवारु मेरो याहि लागि, राजा जू,
हौं दीन वित्तहीन, कैसे दूसरी गढाइहौं॥

गौतम की घरनि ज्यों तरनी तरैगी मेरी,
प्रभु सा निषादु ह्वै कै बादु न बढाइहौ।
तुलसी के ईस राम रावरे सो साची कहौं,
बिना पग धोए नाथ, नाव ना चढाइहौं॥

१४

कालिन्दीपुलिनोदरेषु मुसली यावद्गत खेलितु
तावत् स्वादु पय. पिब हरे वर्धिष्यते ते शिखा।

इत्थं बालतया प्रतारणपराः श्रुत्वा यशोदागिरः
पायाद् वः स्वशिखां स्पृशन् प्रमुदितः क्षीरेऽर्धपीते हरिः ॥

भावार्थः—यशोदा दूध पीने के लिए वालक कृष्ण को फुसलाती हुई कहती हैं—हे कृष्ण ! बलदेव यमुना जी के किनारे खेलने को गया है, जबतक वह लौट कर आवे तब तक तुम इस स्वादिष्ट दूध को पी डालो, जिसमे कि तुम्हारी चोटी भी उसी के समान बडी हो जाय। इस प्रकार यशोदा की वाणी से फुसलाये गए कृष्ण ने अभी आधा ही दूध पीया था कि अपनी चोटी यह देखने के लिए छूने लगे कि दूध पीने के बाद मेरी चोटी कुछ बढी या नही। ऐसे प्रसन्न-वदन कृष्ण आपकी रक्षा करे।

सूरदास के नीचे लिखे पद्य में भी यही भाव है :—
मैया कबहिं बढेगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पिवत भई यह अजहूँ है छोटी ॥
तू जो कहति बल की वेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी।
काढ़त गुहत न्हवावत ओछन नागिन सी भुइ लोटी ॥
काचो दूध पिवावत पचि पचि देत न माखन रोटी।
"सूर" स्याम चिरजिव दोउ भैया हरि हलधर की जोटी ॥

१५

अयि मुरलि मुकुन्दस्मेरवक्त्रारविन्द-
श्वसनमधुरसज्ञे त्वां प्रणम्याद्य याचे।
अधरमणिसमीपं प्राप्तवत्यां भवत्यां
कथय रहसि कर्णे मद्दशां नन्दसूनोः ॥

भावार्थः—एक कृष्ण का भक्त कृष्ण की मुरली को सबोधन करके कहता है—"ऐ मुरली, तुम भगवान् कृष्ण के मुख-कमल की श्वास से बजाई जा कर अति मधुर स्वर निकालती हो। मैं आज तुमसे अति विनय पूर्वक यह भिक्षा मागता हूँ कि कृष्ण के मणि के समान लाल ओठ के समीप जब तुम पहुँचो तो मेरी कैसी शोचनीय दशा हो रही है यह एकान्त मे उनके कानो मे जरा डाल देना।"

१६

क्षुधितस्य नहि त्रपास्ति मे प्रतिरथ्यं प्रतिगृह्णत. कणान्
अकलंक यशस्करं न ते भवदीयोऽपि यदन्यमृच्छति ।।

भावार्थ—एक भगवान् का भक्त भगवान् को उलाहना देता हुआ कहता है—"हे भगवन्, मैं भूखा हूँ। यदि कोई भूखा मनुष्य अपनी क्षुधा शान्त करने के लिए गली-गली, दर-दर, एक एक दाना मागता फिरे तो उसमे लज्जा की बात नही है। पर आप तो नितात निष्कलंक और सबसे बडे दानी हैं। क्या आपके लिये यह यश की बात है कि मैं आपका होकर भी किसी दूसरे के दर पर मागने के लिये जाऊ?"

१७

मदन परिहर स्थिति मदीये मनसि मुकुन्दपदारविन्दधाम्नि
हरनयनकृशानुना कृशोऽसि स्मरसि न चक्रपराक्रमं मुरारेः ।।

भावार्थ—कोई कामी पुरुष विष्णु की भक्ति किया

चाहता है, पर मन उसका विष्णु के चरणों में रमता नहीं, तब वह कामदेव को संबोधन करके कहता है :—कामदेव, तुम मेरे मन से दूर हो जाओ, उसमें अब विष्णु भगवान् के चरणों का वास होने लगा है। तुम तो पहले से ही शिव के तीसरे नेत्र की अग्नि से दग्ध होकर जर्जर हो रहे हो, क्या तुम्हें विष्णु भगवान् के चक्र की शक्ति का स्मरण नहीं है?

१८

पापः खलोऽहमिति नार्हसि मां विहातुं
किं रक्षया कृतमतेरकुतोभयस्य ।
यस्मादसाधुरधमोऽहमपुण्यकर्मा
तस्मात्तवास्मि सुतरामनुकम्पनीयः ॥

भावार्थः—एक भगवान् का भक्त कहता है—हे भगवन्, मैं पापी हूँ, दुष्ट हूँ, यह समझकर ही क्या आप मुझे त्याग रहे हैं। किन्तु जो निष्पाप है, जिसको कोई भय नहीं है, जो सुकृती है, उसको आपकी रक्षा की आवश्यकता ही क्या है? रक्षा की आवश्यकता तो मेरे जैसे पापियों और भयार्तों को है। यदि आप मुझ महापापी, महा अधम और महाखल की रक्षा न करेंगे तो फिर किसकी करेंगे? मैं ही तो आपकी दया का सबसे अधिक पात्र हूँ।

१९

हे कृष्ण मद्भरणमद्य करोषि न त्वं
तेनैव संशयमुपैति मनो मदीयम् ।

नाऽहं वसामि किमु केशव विश्वमध्ये
विश्वंभरेति तव नाम निरर्थकं वा ॥

भावार्थः—कृष्ण का एक भक्त कष्टों से दुःखित होकर कहता है—हे कृष्ण! आज आप मेरा भरण-पोषण नहीं करते हैं, इस से मेरे मन में यह शंका पैदा होती है कि हे केशव! या तो मैं आपके इस संसार में नहीं रहता हूँ या आपका जो "विश्वंभर" (संसार का भरण पोषण करने वाला) नाम है वह निरर्थक है। या तो मेरा भरण-पोषण करें, नहीं तो अपना "विश्वंभर" नाम छोड़ दें।

२०

पृष्ठे भवन्तमयमुद्वहते कदाचित्
एतावता यदि तवेति दयास्पदत्वम्।
स्वामिन्नहं तु हृदयेऽन्वहमुद्वहामि
स्वामित्यतः कथमहो न तवानुकम्प्यः॥

भावार्थः—शिव का एक भक्त शिव को संबोधन करके कहता है—हे भगवन्! यह नान्दी बैल आप को कभी-कभी अपनी पीठ पर सवार कराकर इधर-उधर ले जाता है, पर इतने से ही यह आपकी परम कृपा का पात्र बना हुआ है। पर स्वामिन्, मैं तो प्रतिदिन और प्रतिक्षण आपको अपनी पीठ पर नहीं, बल्कि अपने हृदय में लादे फिरता हूँ, फिर आप मुझे अपनी कृपा का पात्र क्यों नहीं बनाते?

२१

ईशे पदप्रणयभाजि मुहुर्त्तमात्रं
प्राणप्रियेऽपि कुरु मानिनि मा प्रसादम् ।
जानातु मत्प्रभुरसौ पदयोर्नताना
मस्मादृशामिव मनोरथभंगदुःखम् ॥

भावार्थः—शिव का एक भक्त—जो अपने आराध्य देव को मनाते मनाते थक गया, परन्तु उसकी मनोकामना पूरी न हुई—ऊब कर और बहुत दु:खी होकर पार्वती को सबोधन करके कहता है—

"भगवती, आपसे एक विनीत प्रार्थना है। वह यह कि जब आप अपने प्राणों से भी प्यारे पति, महादेव से रूठ जाएँ तो माने नहीं, चाहे वे आपको कितना भी मनावें और आपके चरणों मे अपना सिर भी रख दें। मेरी ओर देखिये, मैं उनके चरणो में नाक रगडते-रगडते कितना थक गया, पर वह पसीजे नही। जरा उन्हे भी तो हमारी तरह मालूम हो कि मनोरथ के भग होने से कितना दु:ख होता है।"

२२

दोषाकरः शिरसि तेऽस्ति गले द्विजिह्वः
पाषाणजा सहचरी पशुरान्तरंगः ।
दुःखं निवेदयति को मम दीनबन्धो
त्वं चेत्त्रिलोचन निमीलितलोचनोऽसि ॥

भावार्थ—शिव का एक भक्त दुःखो से ऊबकर उलाहना देता हुआ कहता है—हे दीनबन्धु ! हे शंकर ! तुम्हारे सिर पर तो दोषो का खजाना दोषाकर (चंद्रमा) है, तुम्हारे गले मे चुगली खाने वाला द्विजिह्व (सर्प) है, तुम्हारी सहचरी पत्थर मे जन्म लेने वाली पार्वती है (अतएव जो पाषाण-हृदया है), तुम्हारा अन्तरग साथी पशु नान्दी बैल है (पशु मे इतनी सहानुभूति कहाँ से हो सकती है)—ऐसी दशा मे मेरा दुःख आप तक कौन पहुँचावे ! और आपने भी, तीन नेत्र वाले होकर भी, हमारी ओर आँखें बन्द कर रखी है ! फिर हमारी कौन सुने ?

इस श्लोक मे 'दोषाकर' और 'द्विजिह्व' मे अति उत्तम श्लेष है—'दोषाकर' का अर्थ 'दोषो का आकर' और दोषा+कर अर्थात् 'चन्द्रमा' तथा 'द्विजिह्व' का अर्थ 'चुगलखोर' और 'सर्प' दोनो है।

२३

वपुः प्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान्।
नमन् मुक्तः संप्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक्
महेश क्षन्तव्य तदिदमपराधद्वयमपि ॥

भावार्थः—एक भक्त अपनी भक्ति द्वारा मुक्त हो जाने पर महादेव को संबोधन करके कहता है—हे महेश, इस जन्म मे शरीर धारण करना पडा इससे मैं यह अनुमान करता हूँ कि मैंने पूर्व जन्म मे आपको कभी प्रणाम नहीं किया था। मैंने पहले जन्म मे प्रणाम किया होता तो मेरा यह जन्म कदापि न होता। अब इस जन्म मे मैं आपको प्रणाम करता

हूँ, जिससे मैं मुक्त हो जाऊँगा और मुझे पुन शरीर धारण नही करना पडेगा । अतः अब मैं आपको भविष्य मे भी प्रणाम न करूँगा । बिना शरीर के मैं आपको प्रणाम कैसे कर सकूँगा ? इसलिए हे भगवन्, मेरे इन दोनो, भूत काल के और भविष्यकाल के, अपराधो को क्षमा करें ।

२४

मौलौ गंगाशशांकौ करचरणतले कोमलांगा भुजंगाः
वामे भागे दयार्द्रा हिमगिरितनया चन्दनं सर्वगात्रे ।
इत्थं शीतं प्रभूतं तव कनकसभानाथ वोढुं क्व शक्तिः
चित्ते निर्वेदतप्ते यदि भवति न ते नित्यवासो मदीये ।।

भावार्थः—एक शिव का भक्त भगवान् को सबोधन करके कहता है—हे भगवन् ! आप अपने सिर पर परम शीतल गगा और उससे भी अधिक शीतल चन्द्रमा को धारण किये हुए हैं । आपके हाथो और पैरो मे ठडे स्पर्श वाले सर्प लिपटे हुए हैं । आपके वाम भाग पर साक्षात् हिम के आलय (हिमालय) की कन्या तथा दया से आर्द्र पार्वती जी विराजमान हैं । आपका सारा शरीर शीतल चन्दन के लेप से लिप्त है । इतनी सारी ठडक आप कभी सहन नही कर सकते थे । यदि सहन कर लेते हैं तो इसका कारण यह है कि आप सदा मेरे दु ख से सतप्त हृदय मे निवास करते हैं, जिस मे दु.ख की आग सदा सुलगती रहती है । उसी आग से आपको गर्मी पहुँचती रहती है और इसी से आप इतनी ठडक बर्दाश्त कर लेते हैं ।

२५

यस्ते ददाति रवमस्य वरं ददासि
यो वा मदं वहति तस्य दमं विधत्से ।
इत्यक्षरद्वय-विपर्यय-केलि-शील
किन्नाम कुर्वति नमो न मनः करोषि ।।

भावार्थ —एक शिव का भक्त शिव से कहता है कि जो आप के समक्ष मुख से 'रव' (शब्द) करता है उसको आप उल्टा 'वर' देते हैं। जो आपके सामने 'मद' (अभिमान) करता है उसका आप 'दम' (दमन) करते है। इस प्रकार अक्षरो का उलट पलट करना आपके लिए स्वाभाविक खेल सा है। तब फिर क्या बात है कि मैं 'नम' (नमस्कार) करता हूँ किन्तु तुम उसकी और 'मन' भी नही देते।

२६

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचरा प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
संचारः पदयो. प्रदक्षिणविधि. स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम् ।।

भावार्थ —एक शकर का भक्त भगवान् की स्तुति मे कहता है—हे शकर ! मेरा शरीर ही मन्दिर है, उसमे तुम मेरे आत्मा के रूप मे निवास करते हो , उसी मे तुम्हारी अर्द्धांगिनी पार्वती

जो मेरी बुद्धि के रूप में विराजती है, उसमे मेरे प्राण ही तुम्हारे सहचर (साथी) हैं, उसमे मेरी इन्द्रियां भिन्न-भिन्न विषयो का जो भोग करती हैं वही तुम्हारी पूजा है, उसमे मेरी निद्रा तुम्हारी समाधि है, उसमे पैरो से जो मेरा सचरण होता है वही तुम्हारी परिक्रमा है और वाणी से जो जो मैं कहता हूँ वही तुम्हारी स्तुति है। साराश यह है कि हे प्रभो! कर्मणा, मनसा, वाचा जो जो कर्म मैं करता हूँ, उसको आप मेरी पूजा के ही रूप मे स्वीकार करें।

२७

हस्तमाक्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम् ।
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥

भावार्थ—एक भक्त कृष्ण को सबोधन करके कहता है—हे कृष्ण! मेरा हाथ बलपूर्वक छुडाकर तुम चले जा रहे हो, इसमे कोई बडी बात नही है। हाँ, तुम्हारा पौरुष तो मैं तब जानू, जब तुम मेरे हृदय से निकल जाओ। इसी भाव को लेकर ही नीचे का दोहा लिखा गया है—

हाथ छुडाये जात हो, निबल जानिके मोहि।
हिर्दे से जो जाइहो, सबल बदौंगो तोहि ॥

२८

बालक इव परिपालितपातकनिचयः प्रयत्नतो बहुशः ।
त्वद्दर्शनेन नष्टः मन्दाकिनि डाकिनी किमसि ॥

भावार्थः—एक गंगा का भक्त गंगा को सम्बोधन करके कहता है—हे गंगे, मैंने बहुत दिनो से, बड़े लाडप्यार से, अपने पापो के समूह को, बालक के समान, अपनी गोद मे पाल रखा था। परन्तु वह पापरूपी बालक आपके दर्शन करते ही नष्ट हो गया। सो हे मन्दाकिनि, बोलो, तुम बच्चो को खा जाने वाली डाकिनी हो क्या ?

२६

येषां श्रीमद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिर्नराणां
येषामाभीरकन्याप्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा।
येषां श्रीकृष्णलीलाललितगुणरसे सादरौ नैव कर्णौ
धिक्तान्धिक्तान्धिगेतान्कथयति सततं कीर्तनस्थो मृदंगः॥

भावार्थः—जिन लोगो को यशोदासुत भगवान् कृष्ण के चरण कमल मे भक्ति नही है, जिनकी जिह्वा आभीर-कन्याओ (गोपियो) के प्यारे कृष्ण के गुणो के वर्णन करने मे अनुरक्त नही है, जिनके कान श्री कृष्ण की ललित लीला के गुणो को सादर सुनने मे अभिरुचि नही रखते, "उनको धिक्कार है।" "धिक्कार है उनको" ऐसा कीर्तन के समय बजता हुआ मृदंग "धिक् धिक् तान्" धिक् धिक् तान्" इस बोल के द्वारा बार-बार कह रहा है।

लक्ष्मी और सरस्वती का विवाद

३०

विद्वांसः कृतबुद्धयः सखि मम द्वारि स्थिता नित्यशः
श्रीमन्तोऽपि मया विना पशुसमास्तस्मावहं श्रेयसी ।
श्रीवाग्देवतयोरमूनि वचनान्याकर्ण्य वेधाश्चिरा-
दूचे श्रेयतरे उभे यदि भवेदेको विवेको गुणः ॥

भावार्थ :—लक्ष्मी और सरस्वती का विवाद इस श्लोक मे अच्छा दिया गया हैं । लक्ष्मी कहती है—"सखी, बडे-बडे विद्वान् और बडे-बडे बुद्धिमान् नित्य मेरे (धनियो के) दरवाजे पर हाथ फैलाये खडे रहते है ।" इस पर सरस्वती उत्तर देती है—"हा ठीक है, किन्तु धनी मनुष्य भी मेरे (सरस्वती के) विना निरे पशु के समान है, इस लिये मैं तुम से बडी हूं ।" लक्ष्मी और सरस्वती के इस विवाद को सुनकर ब्रह्मा जी, बहुत देर तक सोचने के बाद बोले—तुम दोनो ही अच्छी हो, यदि दोनो मे एक विवेक गुण भी हो। विना विवेक के दोनो मे से कोई भी प्रशंसा के योग्य नही है ।"

३१

पीतोऽगस्त्येन तातश्चरणतलहतो वल्लभोऽन्येन रोषा-
दाबाल्याद्विप्रवर्यैः स्ववदनविवरे धार्यते वैरिणी मे ।

गेहं मे छेदयन्ति प्रतिदिवसमुमाकान्तपूजानिमित्त
तस्मात्खिन्ना सदाऽहं द्विजकुलसदनं नाथ नित्यं त्यजामि ॥

भावार्थ :—विष्णु ने लक्ष्मी से पूछा कि तुम ब्राह्मणों से क्यों घृणा करती हो? उनके पास क्यों नहीं जाती? इस पर लक्ष्मी उत्तर देती हैं—"हे नाथ! अगस्त्य नाम का एक ब्राह्मण हुआ है जिसने मेरे पिता समुद्र को ही उठाकर पी लिया था। एक दूसरा ब्राह्मण भृगु नाम का हुआ है, जिसने मेरे प्राण-पति विष्णु भगवान् को ही लात मार दी थी। बहुत छोटी उम्र से ही ब्राह्मण लोग मेरी वैरिणी सरस्वती की उपासना करते हैं और सर्वदा उसे अपने मुख में धारण किए रहते हैं। कमल में मेरा निवास रहता है, उसी को वे लोग प्रतिदिन उमाकान्त (शिव) की पूजा के निमित्त तोड़ा करते हैं। इन्हीं सब बातों से खिन्न होकर मैं ब्राह्मणों के यहाँ रहने का नाम भी नहीं लेती। उन को दूर से ही नमस्कार करती हूँ।"

३२

पद्मे मूढजने ददासि द्रविणं विद्वत्सु किं मत्सरो
नाहं मत्सरिणी न चापि चपला नैवास्मि मूर्खेरता।
मूर्खेभ्यो द्रविणं ददामि नितरां तत्कारणं श्रूयतां
विद्वान्सर्वजनेषु पूजिततनुर्मूर्खस्य नान्या गतिः ॥

भावार्थ :—लक्ष्मी विद्वानों के पास क्यों नहीं जाती—इस पर किसी कवि की अनोखी सूझ है—'हे लक्ष्मी, तुम मूर्खों

को धन देती हो, पर विद्वानो से तुम्हारा इतना द्वेप क्यो है ?" इस पर लक्ष्मी उत्तर देती हैं—"न तो मैं किसी से द्वेप करती हूँ, न मैं चचला हूँ जैसा कि लोग मुझे समझते है और न मूर्खो से मेरा कोई प्रेम है। मूर्खो को जो मैं प्रचुर धन दिया करती हूँ उसका कारण सुनो—विद्वान् पुरुप तो सब जगह पूजा जाता है, उसकी प्रतिष्ठा सब जगह होती है, पर मूर्खों की तो सिवा मेरे और कोई गति ही नही है। इसी से मैं उन्हे धन दिया करती हूँ। यदि मैं भी उन्हे छोड दूँ, तो उनका ठिकाना और कहाँ लगे ?"

३३

लक्ष्मि क्षमस्व वचनीयमिदं दुरुक्त-
मन्धीभवन्ति पुरुषास्त्वदुपासनेन ।
नो चेत्कथं कमलपत्रविशालनेत्रो
नारायणः स्वपिति पन्नगभोगतल्पे ॥

भावार्थ —लक्ष्मी पाने से लोग मद से अन्धे हो जाते है, इस बात को कैसे अच्छे ढग से इस श्लोक मे कहा गया है—"हे लक्ष्मी, तुम्हारी भक्ति और पूजा करने वाले पुरुप अन्धे हो जाते हैं—ऐसा कहने से यद्यपि तुम्हारी निन्दा तो होती है, पर है यह बात सच, इससे कहना पडता है। यदि तुम्हारी उपासना करने से पुरुप अन्धे न हो जाते तो बताओ तुम्हारे साथ रहने से कमल-पत्र के समान बडे-बडे नेत्र वाले विष्णु भगवान्, देखते हुए भी, क्यो शेप नाग के शरीर पर शयन करते ? तुम्हारे सग मात्र से विष्णु भगवान् बडी-बडी आँख वाले होकर भी अन्धे हैं, तभी

तो शेषनाग के शरीर पर सोते है। सोने के लिए उन्हे और कोई ठौर न मिला !

३४

हालाहलो नैव विषं विषं रमा
जनाः परं व्यत्ययमत्र मन्वते।
निपीय जागर्त्ति सुखेन तं शिवः
स्पृशन्निमां मुह्यति निद्रया हरिः ॥

भावार्थः—लोगों का यह ख्याल गलत है कि हालाहल विष है। मैं तो यह समझता हूँ कि हालाहल विष नहीं, विष तो वास्तव मे लक्ष्मी है। क्योंकि हालाहल पीकर देखो शिव तो सदा जागते रहते हैं, परन्तु लक्ष्मी के स्पर्शमात्र से मुग्ध होकर विष्णु भगवान् क्षीर सागर मे, घोर निद्रा मे पडे सोते रहते है।

३५

यद्वदन्ति चपलेत्यपवादं नैव दूषणमिदं कमलायाः।
दूषणं जलनिधेर्हि भवेत्तद्यत्पुराणपुरुषाय ददौ ताम् ॥

भावार्थः—लोग कहते हैं कि लक्ष्मी चचला है, एक जगह स्थिर हो कर नहीं रहती; आज एक के पास है तो कल दूसरे के पास। लेकिन इसमे लक्ष्मी का क्या दोष ? दोष तो लक्ष्मी के पिता समुद्र का है, जिसने उसे पुराण पुरुष (वृद्ध मनुष्य अर्थात् विष्णु) से ब्याह दिया। इसी भाव का रहीम का यह दोहा भी है :—

कमला यह न रहीम थिर साँच कहत सब लोय।
पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय॥

३६

रत्नाकरस्तव पिता कमले निवासो
भ्राता सुधामयतनुः पतिरादिदेवः।
केनापरेण कमले बत शिक्षितानि
सारंगशृंगकुटिलानि विचेष्टितानि॥

भावार्थः—हे लक्ष्मी, महान् रत्नों का खजाना समुद्र तो तुम्हारा पिता है, कमल-जैसे स्वच्छ और सुन्दर स्थान में तुम्हारा निवास है, अमृत का भाण्डार चन्द्रमा तुम्हारा भाई है, साक्षात् आदिदेव भगवान् विष्णु तुम्हारे पति हैं। ऐसे सरल और श्रेष्ठ कुल की होकर भी तुमने हिरन को सींग की तरह कुटिल व्यवहार किस से सीखा है, बताओ तो ?

३७

स्वार्थं धनानि धनिकात्प्रतिगृह्णतो यद्
आस्यं भजेन्मलिनतां किमिदं विचित्रम्।
गृह्णन् परार्थमपि वारिनिधेः पयोऽपि
मेघोऽयमेति सकलोऽपि च कालिमानम्॥

भावार्थः—धनियों के सामने हाथ फैलाने से प्रतिष्ठा की कितनी हानि होती है, इस पर एक कवि कहता है—"किसी धनी

से अपने स्वार्थ के लिए धन लेते हुए मनुष्य का चेहरा मैला (फीका) हो जाय, तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं है। देखो, मेघ तो अपने लिए नही, बल्कि दूसरो के लिए, समुद्र से धन नही, केवल जल ही लेता है, परन्तु इतने ही से वह पूरी तरह काला हो जाता है। किसी के सामने हाथ फैलाने का यही परिणाम होता है।"

३८

लक्ष्मी यादोनिधेर्यादो नादो वादोदितं वचः।

बिभ्यती धीवरेभ्यस्सा दूराद्दूरं पलायते॥

भावार्थः—लक्ष्मी जी सरस्वती के भक्तों से क्यो दूर भागती है, इस पर कवि की अच्छी कल्पना है। इस श्लोक मे "धीवर" शब्द मे उत्तम श्लेष है। "धीवर" शब्द का एक अर्थ है 'विद्वान्" और दूसरा अर्थ है "मल्लाह"। कवि कहता है कि लक्ष्मी यादोनिधि (समुद्र) की "याद" (जलजन्तु) है-यह कहना अनुचित बात नही है। वह समुद्र की जन्तु है इसी से तो वह "धीवर" (विद्वान् या मल्लाह) से दूर-दूर भागती है कि कही मुझे पकड न ले।

३९

निद्राति स्नाति भुंक्ते चलति कचभरं शोषयत्यन्तरास्ते

दीव्यत्यक्षैर्न चायं गदितुमवसरो भूय आयाहि याहि।

इत्युद्दण्डैः प्रभूणामसकृदधिकृतैर्वारितान् द्वारि दीना-
नस्मान् पश्याब्धिकन्ये सरसिरुहरुचामान्तरंगैरपांगैः ॥

भावार्थः—किसी धनी के द्वार से दुर-दुराया गया कोई निष्किंचन, सरस्वती का भक्त लक्ष्मी से कहता है—"सरकार अभी सो रहे हैं, अभी स्नान कर रहे हैं, अभी भोजन पर बैठे हैं, अभी टहल रहे हैं, अभी बालो को सुखा रहे हैं, अभी जनानखाने मे तशरीफ रखते हैं, अभी चौसर खेल रहे हैं, इस समय उनसे कुछ कहने का अवसर नही हैं, फिर आना, अभी जाओ" इस तरह से धन के मद मे मतवाले अमीरो की ड्योढी पर नियुक्त उद्दण्ड अधिकारी पुरुषो से बार-बार रोके गए मुझ को हे लक्ष्मी, अपने कमल को भी मात करने वाले नेत्र के कटाक्ष से एक बार देख लो, तो मैं निहाल हो जाऊँ !"

४०

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदित्थं
शूरस्त्वं वादिदर्पज्वरशमनविधावक्षयं पाटवं नः ।
सेवन्ते त्वां धनाढ्या मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा
मय्यप्यास्था न चेत्त्वयि मम सुतरामेष राजन्गतोऽस्मि ॥

भावार्थ—कोई सरस्वती का भक्त विद्वान् किसी राजा के पास गया, किन्तु अपने प्रति उसकी उपेक्षा देख कर वह कहता है—"हे राजन ! तुम धन के स्वामी हो तो मैं वाणी का मालिक हूँ; तुम शूरवीर हो तो मैं भी शास्त्रार्थ मे प्रतिवादियो के

घमण्ड को चूर करने की अनुपम योग्यता रखता हूँ ; बडे-बडे धनी तुम्हारी सेवा मे लगे रहते हैं और तुम्हारा मुँह जोहते रहते है तो न जाने कितने लोग अपनी बुद्धि का मल दूर करने के लिए मुझे सुनने और मेरी सेवा करने के लिए आतुर रहते है। ऐसी दशा मे यदि मेरे प्रति तुम्हारी श्रद्धा नही है, तो मुझे भी आपके प्रति कोई आस्था नही है। अतएव मुझे यहाँ रहने की कोई आवश्यकता नही है, मैं विदा लेता हूँ।

४१

क्षारतादिभिरसेव्यतरोऽपि प्राहभीषणतया कुटिलोऽपि।
वारिधिर्बत रमाव इतीव सेव्यते भगवता हरिणाऽसौ ॥

भावार्थः—समुद्र इतना खारा है कि उसमे एक क्षण भी कोई रह नही सकता, न उसका एक बूद पानी भी कोई पी सकता है। अनेक भीषण मगर आदि जीव-जन्तु उसमे रहते हैं। परन्तु ऐसे भयानक समुद्र में भी भगवान् विष्णु निवास करते हैं और उसका सेवन करते हैं, क्योकि वह साक्षात् लक्ष्मी का देने वाला है। भगवान् विष्णु भी लक्ष्मी के लोभ से ही वहाँ निवास कर रहे हैं। लक्ष्मी का लोभ बडा प्रबल होता है।

४२

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः
ख्यातास्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः।

इत्थं मानद नातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः ॥

भावार्थ :—कोई सरस्वती का भक्त, विद्वान्, कवि किसी राजा या धनी के पास गया, परन्तु अपने प्रति उसकी उपेक्षा देखकर कहता है—"आपको यदि अपने धन और ऐश्वर्य का घमण्ड है तो मुझे भी इस बात का अभिमान है कि मैंने गुरु की सेवा करके विद्या और बुद्धि का सचय किया है। आप अपने धन और वैभव के लिए प्रसिद्ध है तो मेरा भी यश कवि लोग सारी दिशाओ मे चारो ओर फैला रहे हैं। हे अभिमान मे चूर लक्ष्मी के पुत्र! इस प्रकार हम दोनो मे कोई बडा अन्तर नही है। अतएव यदि हमसे तुम अपना मुंह मोडते हो, तो हमे भी आपकी परवाह नही है।"

ऋतु - वर्णन

४३

जगद्विजयरूपके पठति सूत्रधारे मधा—
वलिप्रमदकोकिलाकलकलच्छलान्मंगलम् ।
रुषं जवनिकां हरन् मृगदृशां मनोरंगत—
स्ततः प्रविशति स्वयं कुसुमसायको नायकः ।।

भावार्थः—वसन्त ऋतु के वर्णन मे किसी कवि ने बडा सुन्दर रूपक बाँधा है—जब "जगद्विजय" नाम के नाटक के प्रारम्भ मे वसन्तरूपी सूत्रधार मद मे मतवाली कोकिलाओ की कूकरूपी नान्दी का पाठ कर चुका, तब मृगनयनी कामनियो के मनरूपी रगमच (स्टेज) से मानरूपी जवनिका (पर्दे) को हटाते हुए कामदेव रूपी नायक ने प्रवेश किया। इस रूपक मे कामदेव की उपमा समस्त जगत् को विजय करने वाले नायक से, वसन्त की उपमा सूत्रधार से, कोयल की कूक की उपमा नान्दी-पाठ से, कामनियो के मन की उपमा रगमच से और उनके रोष और मान की उपमा जवनिका से दी गयी है।

४४

जगौ विवाहावसरे वनस्थली-
वसन्तयोः कामहुताशसाक्षिणि ।

पिकद्विज· प्रीतिमना मनोरमं
मुहुर्मुहुर्मंगलमंत्रमादरात् ॥

भावार्थ —वसन्त काल मे वनस्थली कैसी हरी-भरी और शोभायमान हो जाती है तथा कोयल अपनी कूक से लोगो के मन को कैसा आकर्षित करती है—इसका वर्णन करता हुआ कवि कहता है—वसन्त और वनस्थली का विवाह रचाया गया। विवाह मे अग्नि को साक्षी मानकर उसके चारो ओर वर और वधू फेरे फिरते है। इस अवसर पर कामदेव की अग्नि ने ही साक्षी का काम दिया। विवाह मे पुरोहित मन्त्रो का पाठ करता है। इस अवसर पर कोयल ने ही पुरोहित का काम किया। वार-वार कोयल की कूक ही मन्त्रो का उच्चारण है।

४५

वसन्तप्रारम्भे चिरविरहखिन्ना सहचरी
यदि प्राणान्मुञ्चेत्तदिह वधभागी भवति क.।
वयो वा स्नेहो वा कुसुमविशिखो वेति विमृशन्
तुहीति प्रव्यक्तं पिकनिकरझांकारमशृणोत् ॥

भावार्थ —वसन्त ऋतु मे कोई वियोगी पथिक अपनी विरहिणी प्रियतमा के बारे मे सोचता हुआ कहता है—वसन्त का प्रारम्भ हो गया है जब विरहिणी बालाओ के हृदय मे वियोगाग्नि भडक उठती है, ऐसे समय मे चिरकाल से विरह के दु ख को भोगती हुई यदि मेरी सहचरी प्रियतमा अपने प्राणो को छोड दे, तो उसके वध का अपराधी कौन होगा ? क्या युवावस्था इस

अपराध की भागी होगी या प्रियतमा का उत्कट प्रेम इसका भागी होगा या कुसुम-शर कामदेव इसका भागी होगा ? जब यह इस तरह विचार कर ही रहा था तभी चारों ओर से वृक्षों पर बैठी हुई कोकिलाओं ने एक स्वर से अपनी कूक में कहा—"तू ही, तू ही"। उन सबने मिलकर मानो स्पष्ट कह दिया कि यदि उस प्रेमोन्मादिनी विरहिणी को कुछ हो गया तो दोषी "तू ही" ठहराया जायगा।

४६

वारस्त्रीव वनस्थली नवनवां शोभां बभारान्वहं
पान्थान् पीड़यति स्म तस्कर इव क्रूरैः शरैर्मन्मथः।
शृंगारः सगुणः क्षमापतिरिव प्राप्तः प्रतिष्ठां परां
रात्रिः स्वीकुरुतेस्म मुग्धललनालज्जेव कार्श्यं क्रमात् ॥

भावार्थः—वसन्त ऋतु में वेश्या के समान वनस्थली ने प्रतिदिन नयी-नयी शोभा नये-नये प्रकार से धारण की। डाकू के समान कामदेव प्रियतमाओं से दूर विरही पथिकों को अपने क्रूर बाणों से पीड़ा देने लगा। शृंगार रस ने सर्वगुण सम्पन्न होकर, दलबल सहित राजा के समान, चारों ओर प्रतिष्ठा को प्राप्त किया और रात वैसे ही धीरे-धीरे क्षीण होने लगी जैसे कि मुग्धा नायिका की लज्जा धीरे-धीरे क्षीण होती जाती है।

४७

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्
बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।

सद्यो वसन्तेन समागतानां
नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥

भावार्थः—वसन्त ऋतु मे वनस्थली मे फूले हुए पलाश के अधखिले लाल लाल फूल ऐसे प्रतीत होते हैं कि मानो दूज के चान्द के समान टेढे ये टेसू के फूल वास्तव मे ऋतुराज वसन्त के साथ क्रीडा करती हुई वनस्थली रूपी वधूटी के अंगो पर तुरन्त लगे हुए नखक्षत हो।

४८

सव्याधेः कृशता क्षतस्य रुधिरं दष्टस्य लालास्रुतिः
किंचिन्नैतदिहास्ति तत्कथमसौ पान्थस्तपस्वी मृतः।
आः ज्ञातं मधुलंपटैर्मधुकरैरारब्धकोलाहले
नूनं साहसिकेन चूतमुकुले दृष्टिः समारोपिता ॥

भावार्थः—वसन्त ऋतु मे एक वियोगी पथिक मार्ग मे एक आम के पेड के पास मरा हुआ दिखाई पडा। इस पर कवि कल्पना करता है कि यदि यह किसी बीमारी से मरा होता तो कम से कम दुबला तो होता, यदि कोई घाव होता तो लहू बहा होता, यदि साँप के काटने से मरा होता तो मुँह से फेन बहा होता। परन्तु ये सब लक्षण तो इसमे कुछ भी नही हैं, तो फिर बेचारा पथिक मरा कैसे? अच्छा, समझे! मजरियो पर मण्डराते हुए मधु के लोभी भौरो की झनकार से आकृष्ट होकर, इसने साहस करके अवश्य आम की मजरी पर दृष्टि डाल दी होगी और तभी

इसकी वियोगाग्नि भड़क उठी होगी और उसी से इसके प्राण-पखेरू उड़ गए होंगे।

४६

कोकिलश्चूतशिखरे मंजरीरेणुपिंजरः।
गदितैर्व्यक्ततामेति कुलीनश्चेष्टितैरिव॥

भावार्थः—वसन्त ऋतु में आम के वृक्ष मंजरी से इतने लदे हुए हैं कि उनकी चोटी पर बैठी हुई कोयल भी मंजरी के रंग से रंजित हो गई है। पता नहीं चलता कि वहाँ कोयल बैठी हुई है। उसका पता तभी लगता है जब वह कू-कू आवाज करती है। इस प्रकार वह अपनी बोली से उसी तरह प्रगट होती है, जिस तरह कि कुलीन मनुष्य अपने आचरण और वाणी से जाना जाता है।

५०

तप्ता मही विरहिणामिव चित्तवृत्ति-
स्तृष्णाध्वगेषु कृपणेष्विव वृद्धिमेति।
सूर्यः करैर्दहति दुर्वचनैः खलो नु
छाया सतीव न च मुंचति पादमूलम्॥

भावार्थ—ग्रीष्म ऋतु में पृथ्वी वैसे ही तप रही है जैसे कि वियोगी प्रेमियों का हृदय वियोग में तपा करता है। बटोहियों में प्यास वैसे ही बढ़ रही है जैसे कृपण मनुष्यों में धन की तृष्णा दिनरात दिन बढ़ती जाती है। सूर्य अपनी तीखी किरणों से

जगत् को वैसे ही पीडा दे रहा है, जैसे कि दुर्जन मनुष्य अपने वाग्बाणो से लोगो को पीडा दिया करता है। छाया वृक्ष की जड को वैसे ही नही छोडती जैसे कि सती पतिव्रता स्त्री अपने पति के चरणो को छोडकर कही नही जाती।

५१

परपुरुषादिव सवितुः संप्रति भीता कराग्रसंस्पर्शात्।
कुलवध्व इव सलज्जाः प्रविशन्ति गृहोदरं छायाः॥

भावार्थः—सूर्य की किरणें (अर्थात् सूर्य का हाथ) कही मुझे स्पर्श न कर लें, बस इसी डरसे ग्रीष्म मे छाया घर के भीतर घुसकर बैठती है, जैसे कोई लज्जाशीला कुलकामिनी परपुरुष के कर-स्पर्श से डरती हुई घर के भीतर घुस जाती है। 'कर' मे श्लेष है—'कर' का अर्थ 'हाथ' और 'किरण' दोनो है।

५२

छाया वियोगिवनितेव गता कृशत्वं
तप्तं पयः पिशुनमानसवद्बभूव।
केनाधुना बत मनागवलोकनीयः
क्रुद्धोत्तमर्णमुखमण्डलवत्पतंगः ॥

भावार्थः—ग्रीष्म ऋतु मे पेडो की छाया वैसे ही तेजोरहित, मन्द और कृश हो जाती है जैसे कि विरहिणी स्त्री अपने प्रियतम के वियोग मे दुबली हो जाती है। जल ग्रीष्म की गर्मी

से वैसे ही तप जाता है, जैसे कि दुष्टों का हृदय दूसरों की ईर्ष्या से भीतर-ही-भीतर जला करता है। लाल अगारे के समान प्रचंड सूर्य की ओर देखने का साहस उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कि क्रोध मे भरे हुए, कर्ज देने वाले, महाजन का मुख देखने का साहस कर्जदार को नहीं होता।

५३

मध्याह्ने चलतालवृन्तमनिलः सर्वात्मना सेवते
वारि स्वेदमिषेण शीतलवधूवक्षोजमालम्बते ।
निद्रा नेत्रमुपैति पक्ष्मयुगलच्छायाश्रिता देहिकी
पान्थानामथ पादयोर्निपतति च्छायापि मा यास्त्विति ॥

भावार्थः—ग्रीष्म की ऋतु मे ठीक दोपहर को सभी प्राणी व्याकुल हो जाते है और गर्मी से बचना चाहते हैं। यहाँ तक कि हवा भी गर्मी से बचने के लिए चलते हुए पंखे की शरण ले लेती है, जल भी पसीने के रूप मे वधुओं के शीतल पयोधरो की छाया मे आ जाता है. निद्रा भी नेत्रो की दोनो बरौनियो की छाया मे शरण ले लेती है; और पथिको के शरीर की छाया भी उनके पैरो पर गिरकर, उनको आगे जाने से रोक देती है।

५४

दुःसहतापभयादिव संप्रति मध्यस्थिते दिवसनाथे ।
छायामिव वांछन्ती छायापि गता तरुतलानि ॥

भावार्थः—ग्रीष्म मे दोपहर को, सूर्य के ठीक मध्य आकाश मे आने पर, असहनीय ताप के भय से, छाया भी छाया की इच्छा से वृक्ष के नीचे चली गयी है। दोपहर के बारह बजे छाया सिकुडती-सिकुडती ठीक वृक्ष के नीचे आ जाती है, इसी बात को कवि ने कैसे अनोखे ढग से कहा है। इसी भाव का बिहारी का यह दोहा भी है—

बैठि रही अति सघन वन, पैठि सदन मन माँहि।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाहो चाहत छाँहि ॥

५५

निजां कायच्छाया श्रयति महिषः कर्दमधिया
च्युतं गुंजापुजं रुधिरमिति काकः कलयति।
समुत्सर्पन्सर्पः सुपिरबिवरं तापविवशः
सचीत्काराधूतं प्रविशति करं कुंजरपतेः ॥

भावार्थ.—ग्रीष्म ऋतु मे गर्मी से व्याकुल होकर भैसा अपने शरीर की छाया को ही कीचड समझकर उसमे लोटना चाहता है। कौआ भी गर्मी से व्याकुल होकर लाल-लाल गुंजाफलो को रुधिर समझकर अपनी चोच से चाटना चाहता है। सर्प भी, गर्मी से घबडाकर, बिल की तलाश मे रेगता हुआ हाथी की सूंड मे प्रवेश कर रहा है और इससे हाथी अपनी सूड को बडे चीत्कार के साथ फडफडा रहा है।

५६

छाया संश्रयते तलं विटपिनां श्रान्तेव पान्थैः समं
मूलं याति सरोजलस्य जड़ता ग्लानेव मीनैः सह ।
आचामत्यहिमांशुदीधितिरपस्तप्तेव लोकैः समं
निद्रा गर्भगृहं सह प्रविशति क्लान्तेव कान्ताजनैः ॥

भावार्थः—ग्रीष्म ऋतु मे छाया भी पथिको के साथ-साथ थककर पेडो के नीचे शरण लिये हुए पडी है । गर्मी से व्याकुल होकर जल की निस्तब्धता भी मछलियो के साथ-साथ सरोवर के पेंदे मे जाकर टिक गयी है । जिस तरह लोग व्याकुल होकर शीतल जल से अपनी प्यास बुझाते हैं, उसी तरह सूर्य भी अपनी किरणो से पानी खीचकर अपनी प्यास बुझा रहा है । निद्रा भी थकी मान्दी होकर कुल स्त्रियो के साथ-साथ घर के भीतरी कमरे मे नीद लेने के लिए प्रवेश कर रही है ।

५७

दुष्प्रेक्ष्यमुच्चैर्गगनं निदाघे
कोपाकुलस्येव मुखं नृपस्य ।
हरेः शयानस्य मृणालबुद्धया
कर्षन्ति पुच्छं करिणः करेण ॥

भावार्थः—ग्रीष्म ऋतु मे आकाश की ओर देखने से वैसा ही डर लगता है जैसे कि क्रोध से तमतमाए हुए राजा का मुख

देखने से भय लगता है। गर्मी के मारे सिंह व्याकुल होकर ऐसी घोर निद्रा मे सो रहा है कि हाथी उसकी दुम को खीचता है और उसे पता भी नही चलता। हाथी यह समझकर उस की दुम को खीचता है कि यह कमल की नाल है। सच है ग्रीष्म ने सब को धोखे मे डाल रखा है।

५८

खं वस्ते कलविंककण्ठरुचिरं कादम्बिनीकम्बलं
चर्चा पारयतीव दर्दुरकुलं कोलाहलैरुन्मदम् ।
गन्धं मुंचति सिक्तलाजसदृशं वर्षेण दग्धा स्थली
दुर्लक्ष्योऽपि विभाव्यते कमलिनीहासेन भासां निधिः ॥

भावार्थः—वर्षाकाल मे कलविंक (गौरैया) के कण्ठ के समान काले मेघ आकाश मे छाये हुए ऐसे लगते है मानो आकाश रूपी फर्श पर काला गलीचा बिछा हो। मेढक लोग टर-टर लगाए हुए ऐसे लगते है मानो वेद-पाठी छात्र वेद-पाठ कर रहे हो। ग्रीष्म से तप्त पृथ्वी वर्षा की बून्दो से सिक्त होकर वैसी ही सुगन्ध छोड रही है, जैसी सुगन्ध धान के लावा के घी मे भूजने से उठती है। यद्यपि सूर्य मेघो मे छिपा हुआ दिखाई नही पडता तथापि कमलो के विकास से उसके अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है।

५९

क्षपा क्षामीकृत्य प्रसभमपहृत्याम्बु सरितां
प्रताप्योर्वीं कृत्स्नां तरुगहनमुच्छोष्य सकलम् ।

क्व संप्रत्युष्णांशुर्गत इति तदन्वेषणपरा-
स्तडिद्दीपालोका दिशि दिशि चरन्तीह जलदाः ॥

भावार्थ.—वर्षा काल की रात के वर्णन मे एक कवि कहता है—ग्रीष्म ऋतु मे सूर्य ने बडे-बडे अत्याचार किये हैं, विशेषकर अबलाओ पर। क्षपा (रात्रि) रूपी अबला को सताकर उसने कृशित और दुर्बल बना दिया है (गर्मी मे रात छोटी हो जाती है); नदी रूपी स्त्रियो को उनका सर्वस्व जल बलपूर्वक अपहरण कर दीन बना दिया है, एक अन्य अबला अर्थात् पृथ्वी को तपाकर झुलसा दिया है, इसके अतिरिक्त जितने वन-उपवन हैं उनको सुखाकर मुर्दा बना दिया है—इस प्रकार इतने बडे-बडे अन्याय और अत्याचार करके वह अत्याचारी सूर्य कहीं छिपकर बैठा है, बस उसी को ढूंढने के लिए, हाथ मे बिजली रूपी मसाल लेकर, मेघ एक दिशा से दूसरी दिशा मे चक्कर लगा रहे हैं।

६०

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो
मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारानिपातैः सह किं नु वान्त
श्चन्द्रोऽयमित्यार्त्ततरं ररास ॥

भावार्थ.—वर्षा काल की अंधेरी रात मे एक चन्द्रमुखी अभिसारिका नायिका छिपकर अपने यार के घर जा रही है। उसके मुखरूपी चन्द्रमा को बिजली रूपी नेत्रो से देखकर बादलों

को भ्रम होता है कि कहीं निरन्तर के धारापात के साथ चन्द्रमा तो आकाश से पृथ्वी पर नहीं गिर पड़ा, हाय, बड़ा गजब हो गया। इसी सोच में भरकर वे अकस्मात् बड़ी जोर से चिल्ला उठे। यह बादलों का गरजना ही उनका चौंक कर चिल्लाना है।

६१

आकाशे पश्य नेमा निबिड़घनघटाः संभृताग्नेयचूर्णा
मंजूषा भान्ति तासामुपरि सुरधनुःकैतवात्केतवोऽमी।
विद्युन्नो नालयंत्रश्रुतिमुखनिपतद्दीप्तवर्तिप्रकाशः
सैन्यं मारस्य मन्ये स्फुरति विमथितुं मानिनीमानदुर्गम् ॥

भावार्थः—वर्षा काल मे देखो आकाश मे बादलो की यह घनघोर घटा नही है बल्कि बारूद से भरी हुई पेटी है; उसके ऊपर जो यह इन्द्रधनुष प्रगट हो रहा है वह इन्द्रधनुष नही है बल्कि सेना की पताका है; उसमें जो यह बिजली की छटा चमक रही है वह बिजली नही है बल्कि तोप की नली में रखे हुए पलीते मे आग लगने से निकला हुआ प्रकाश है। इस प्रकार सेना के सब साधनो से सुसज्जित होकर कामदेवरूपी सेनापति मानिनी स्त्रियों के मानरूपी गढ को चूर करने के लिए निकल पडा है।

६२

चन्द्रबिम्बरविबिम्बतारकामण्डलानि घनमेघडम्बरैः।
भक्षितानि जलदोदरेषु तद्रोदनध्वनिरिवैष गर्जितम् ॥

भावार्थः—वर्षाकाल मे घनघोर मेघो के समूह ने चन्द्रमा को,

सूर्य को और तारो को समूचा निगल लिया है, तभी तो दिन को सूर्य और रात को चन्द्रमा और तारे दिखाई नही पड़ते। यही निगले हुए सूर्य, चन्द्रमा और तारे मेघो के उदर में पड़े हुए कुहमुडाकर रो रहे है। मेघ जो गर्जते है, वही उनके रोने की आवाज है।

६३

चलद्बलाकादशनाभिरामः परिस्रवद्वारिमदाम्बुधारः ।
आहन्यमानस्तड़िदंकुशेन स्मरस्य बध्वान घनद्विपेन्द्रः ॥

भावार्थ.—कामदेवरूपी राजा हाथी पर चढकर ससार को विजय करने के लिए निकला है। काला मेघ ही उसका हाथी है, चलते हुए सारसो की पंक्ति ही उस हाथी के दात है, आकाश से गिरता हुआ वर्षा का जल ही हाथी के शरीर से चूते हुए मद की धारा है, बिजली की चमक ही उस हाथी के ऊपर लगा हुआ अकुश है जिसके चुभने से वह चिघाड उठता है और बादल का गरजना ही उस हाथी की चिघाड है।

६४

वृद्धांगनेव विजहौ सरिदुद्धतत्त्व
वेदान्तिनामिव मतं शुचि नीरमासीत् ।
चन्द्रप्रभा युवतिवक्त्रमिवाद्भुताभूत्
आह्यण्यदैन्यमिव केकिरुतं न रेजे ॥

भावार्थः—शरत् काल मे नदियो का जोश वैसे ही टूट गया

जैसे कि बुढापे मे स्त्रियो का जोम टूट जाता है ; जल वैसा ही साफ हो गया जैसा कि वेदान्तियो का सिद्धान्त स्वच्छ और विमल होता है , चन्द्रमा का प्रकाश मेघो के लोप हो जाने से, वैसा ही निर्मल और शोभायुक्त हो गया जैसा कि सुन्दर युवतियो का मुखारविन्द शोभायुक्त होना है और मोरो का किकियाना वैसा ही कर्णकटु लगता है जैसा कि विद्वान् ब्राह्मणो की दीन वाणी कानो को अप्रिय लगती है।

६५

अथ प्रसन्नेन्दुमुखी सिताम्बरा
समाययावुत्पलपत्रलोचना ।
सपंकजा श्रीरिव गां निषेवितुं
सहंसबालव्यजना शरद्वधूः ॥

भावार्थः—रमणीय चन्द्रमा ही जिसका मुख है , आकाश ही जिसकी साडी है , नीले कमल ही जिसके लोचन है , कमल की शोभा ही जिसकी शोभा है ; हस ही जिसका चवर है, ऐसी शोभायमान शरद् रूपी वधू, साक्षात् लक्ष्मी के समान, पृथ्वी का सुख भोगने के लिए आकाश से नीचे उतर आयी है।

६६

तीक्ष्णं रविस्तपति नीच इवाचिराढ्यः
शृंगं रुरुस्त्यजति मित्रमिवाकृतज्ञः ।

तोयं प्रसीदति मुनेरिव चित्तवृत्तिः
कामी दरिद्र इव शोषमुपैति पंकः ।।

भावार्थ —शरद् ऋतु मे सूर्य वैसा ही तप रहा है जैसा कि हाल ही मे धन पा जाने से, मद से बौराया हुआ नीच पुरुष तपने लगता है, किसी को माल नही गिनता। हिरन अपने सीगो को वैसे ही त्याग रहे है जैसे कि कृतघ्नी मनुष्य समय पडने पर अपने सन्निकट मित्र को भी त्याग देते है। जल वैसा ही स्वच्छ हो गया है जैसा कि मुनियो का मन स्वच्छ रहता है। वर्षाकाल मे वर्षा के कारण उत्पन्न कीचड वैसे ही धीरे-धीरे सूख रहा है जैसे कि कामी दरिद्र की इच्छाएँ, साधन न होने से, आप ही लोप हो जाती है।

६७

हिमधवलदन्तकेशी मन्दद्युतितारका बृहत्तिमिरा।
द्विगुणीभूता रजनी वृद्धेव शनैः शनैर्याति ।।

भावार्थ —हेमन्त ऋतु मे रात दुगनी बडी हो जाती है, अतएव उसकी उपमा एक वृद्धा स्त्री से दी गयी है। हिम (बर्फ) ही उसके सफेद दात और केश है। आकाश के तारे ही उसकी आँखो की पुतलियाँ हैं। जिस प्रकार वृद्धावस्था मे आँखो की ज्योति मन्द पड जाती है, उसी प्रकार हेमन्त की रात मे तारो की ज्योति भी धीमी पड जाती है। जिस प्रकार वृद्धावस्था मे आँखो का तिमिर बढजाता है, उसी प्रकार हेमन्त की रात का अधकार भी बढ जाता है। जिस प्रकार वृद्धा स्त्री लाठी के सहारे

धीरे-धीरे चलती है उसी प्रकार हेमन्ती की रात भी धीरे-धीरे ही जाती है। रात पहाड जैसी लगती है, काटे नही कटती।

६८

लज्जा प्रौढ़मृगीदृशामिव, नवस्त्रीणां रतेच्छा इव
स्वैरिण्या नियमा इव, स्मितरुचः कुल्यांगनानामिव ।
दम्पत्योः कलहा इव, प्रणयिता वारांगनानामिव
प्रादुर्भूय तिरोभवन्ति, सहसा हैमन्तिका वासराः ॥

भावार्थः—हेमन्त ऋतु मे प्रौढा स्त्रियो की लज्जा के समान, नवयुवतियो की सुरतेच्छा क समान, यथेच्छाचारिणी स्त्रियों के शील और नियम के समान, कुलीन स्त्रियो की मुस्कान के समान, पति और पत्नी के परस्पर प्रेम-कलह के समान तथा वेश्याओ की प्रीति के समान, दिन आते हैं और फिर शीघ्र ही विलीन भी हो जाते हैं। हेमन्त ऋतु में दिन छोटे हो जाते हैं इसके वर्णन में कैसी सुन्दर और घरेलू उपमाएँ कवि ने दी हैं।

६६

दुराशेव दरिद्रस्य तृष्णेव कृपणस्य च ।
अहो न विरमत्येषा हन्त हेमन्तयामिनी ॥

भावार्थः—हेमन्त ऋतु की निगोडी रात दिन पर दिन वैसी ही बढती जाती है जैसे कि दरिद्र मनुष्य की दुराशा और कृपण मनुष्य की तृष्णा दिन पर दिन बढती जाती है। कभी उनका अन्त होने को नही आता।

७०

शीतार्त्ता इव संकुचन्ति दिवसाः नैवाम्बरं शर्वरी
शीघ्रं मुंचति, पश्य देव ! हुतभुक्कोणं गतो भास्करः।
त्वं चानंगहुताशभाजि हृदये सीमन्तिनीनां स्थितो
नास्माक वसनं न वा युवतयो ब्रूहि क्व यामो वयम् ॥

भावार्थः—शिशिर काल मे कोई कवि किसी राजा के पास जाकर कहता है—हे राजन् ! जाडे मे दिन भी सर्दी के मारे ठिठुर कर सिकुड गए हैं (अर्थात् छोटे हो गए हैं)। रात भी जाडे के मारे अम्बर (आकाशरूपी रजाई) ओढे पडी हुई है और आलस्य को शीघ्र छोडना नहीं चाहती, इसीलिए जाडे मे रात बडी हो गई है। सर्दी से ठिठुरा हुआ सूर्य भी आग तापने के लिए अग्निकोण को चला गया है। आप भी उन रानियो के हृदयो मे निवास करते हैं, जिनमे कामाग्नि सदा सुलगा करती है। और मैं अपनी क्या कहूँ, मेरे न तो कपडा है, न युवतियाँ है। बताइये मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ और कैसे जाडा काटूँ ?

७१

विभीषयति शीतलं जलमहिर्वपुष्मानिव
प्रलोभयति कामिनीस्तन इवास्तधूमानिलः।
सुताप्तय इव त्विषो दिनमणेः सुखं कुर्वते
कुटुम्बकटुवागिव व्यथयते तुषारानिलः ॥

भावार्थ.—शिशिर काल मे ठडा जल साक्षात् सर्प की तरह काटने को दौडता है। जिनमे से धुंग्रा ग्रब नही उठ रहा है, ऐसे लाल-लाल जलते हुए आग के अगारे मनुष्य को अपनी ओर वैसा ही आकृष्ट करते हैं, जैसे कि कामिनी के स्तन देखने वाले को अपनी ओर आकर्षित करते है। सूर्य की किरणें मनुष्य को वैसा ही सुख देती है, जैसा कि पुत्र की प्राप्ति होने पर मनुष्य को सुख मिलता है। ठडी तीखी हवा शरीर को वैसे हो बेधती चलती है, जैसे कि अपने कुटुम्ब वालो के कडवे वचन हृदय को बेधनेवाले होते हैं।

७२

शिशिरसीकरवाहिनि मारुते
चरति शीतभयादिव सत्वरः।
मनसिजः प्रविवेश वियोगिनी-
हृदयमाहितशोकहुताशनम् ॥

भावार्थः—शिशिर ऋतु मे ठडी हवा विरहिणी स्त्रियो के लिए कैसी दुखदायिनी होती है इसका वर्णन करते हुए कवि कहता है—शिशिर काल मे ठडी हवा चलने पर, शीत से बचने के लिए कामदेव भी, वियोगिनी स्त्रियो के हृदयो मे, जिनमे वियोग की आग जल रही है, प्रवेश करने लगता है।

प्रभात और सूर्योदय

७३

अभूत्प्राची पिंगा रसपतिरिव प्राश्य कनकं
क्षणात्क्षीणा तारा नृपतय इवानुद्यमभृतः ।
गतच्छायश्चन्द्रो बुधजन इव ग्राम्यसदसि
न राजन्ते दीपा द्रविड़रहितानामिव गुणाः ।।

भावार्थ.—प्रभातकाल के वर्णन मे बडी सुन्दर उपमाएँ इस श्लोक मे दी गयी है—सोना पी लेने के बाद पारा जैसे तपाए हुए सोने की भाँति चमकने लगता है, उसी तरह पूर्व दिशा भी प्रभात काल मे सूर्योदय की लाली से तपाए हुए सोने की भाँति चमक रही है। आलसी अनुद्यमी राजाओ की भाँति तारे भी क्षण भर मे क्षीण होकर लोप हो गये हैं। जिस प्रकार गँवारो के बीच मे बुद्धिमानो की श्री हत हो जाती है, उसी प्रकार चन्द्रमा भी प्रभातकाल मे श्रीहत होकर अस्त हो रहा है। दीपक वैसे ही प्रकाशहीन होकर शोभा नही देते, जैसे कि धन से हीन दरिद्र मनुष्य के गुण शोभा नही देते।

७४

विरलविरलीभूतास्तारा: कलौ सुजना इव
व्यपसरति च ध्वान्तं चित्तात्सतामिव दुर्जनः ।

अयमुदयधरित्रीधारिमूर्धाधिरूढो
नयनपथमुपेतो भानुमत्केसरीन्द्रः ॥

भावार्थः—इस श्लोक में सूर्य की उपमा एक सिंह से दी गयी है। प्रातःकाल सूर्यरूपी सिंह ने अन्धकाररूपी हाथी के मस्तक को अपने किरणरूपी नखों से विदीर्ण कर दिया है। मस्तक विदीर्ण होने से जो मोती उसमें से गिरे हैं वही ओस की बूंदों के रूप में चारों ओर बिखरे हुए दिखाई पड़ रहे हैं। वही सूर्यरूपी सिंह अपने अन्धकार रूपी शत्रु को पछाड़ने के बाद देखो, उदयाचल पर्वत की चोटी पर चढ़कर कैसे गर्व के साथ बैठा हुआ है।

७८

अयमुदयति मुद्राभंजनः पद्मनीना-
मुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम्।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन्
कुपितकपिकपोलक्रोड़ताम्रस्तमांसि ॥

भावार्थः—यह देखो गुस्से से भरे हुए बन्दर के गाल के समान लाल-लाल सूर्य, कमलों के समूह को प्रफुल्लित करता हुआ, रात भर एक-दूसरे से वियुक्त चकवा-चकई के जोड़ों को फिर से मिलाता हुआ तथा अन्धकार के समूह को भेदता हुआ, उदयाचल पर्वत के वनों में खिले हुए मन्दार वृक्ष के फूल के समान, उदय हो रहा है।

७९

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना—
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु ॥

भावार्थः—कालिदास के शकुन्तला नाटक में प्रभात के वर्णन में यह श्लोक है—एक ओर चन्द्रमा जो आकाश में चढ़ा हुआ था, अब काल के चक्कर में पड़कर अस्ताचल की ओर जा रहा है। दूसरी ओर सूर्य, जो पतनावस्था को प्राप्त हो गया था, अब आकाश में फिर उदय हो रहा है। चन्द्रमा और सूर्य दोनों एक साथ अपने उत्थान और पतन से मानो लोगों को यह उपदेश दे रहे हैं कि जिसका उत्थान है उसका पतन भी हो सकता है और जो गिरा है वह उठ भी सकता है।

८०

उदयमुदितदीप्तिर्याति यः संगतो मे
पतति न वरमिन्दुः सोऽपरामेष गत्वा
स्मितरुचिरिव सद्यः साभ्यसूयं प्रभेति
स्फुरति विशदमेषा पूर्वकाष्ठांगनायाः ॥

भावार्थः—प्रभात काल में चन्द्रमा पश्चिम दिशा में डूब जाता है और पूर्व दिशा में इसकी-सी प्रभा फैलने लगती है—

मन इव मुनेः सर्वत्रापि प्रसन्नमभून्नभो
विगलति निशा क्षिप्रं लक्ष्मीरनुद्यमिनामिव ।।

भावार्थः—प्रभात के वर्णन मे एक कवि ने बडी सुन्दर उपमाएँ दी है—प्रभात के समय तारे आकाश मे उसी प्रकार एक्क-दुक्का दिखाई पड रहे है, जिस प्रकार कि कलियुग मे सज्जन विरले ही दिखाई देते हैं। आकाश से अन्धकार उसी प्रकार दूर हो रहा है, जिस प्रकार कि अच्छे लोगो के चित्त से दुर्जन दूर हो जाते हैं। सब ओर आकाश उसी प्रकार प्रकाश से प्रसन्न हो रहा है जिस प्रकार कि मुनियो का मन सदा प्रसन्न रहता है। रात्रि उसी प्रकार शीघ्रता के साथ लोप हो रही है, जिस प्रकार कि निरुद्यमी, आलसी लोगो की लक्ष्मी आनन-फानन लोप हो जाती है।

७५

सपदि कुमुदनीभिर्मीलितं हा क्षपापि
क्षयमपगमदपेतास्तारकास्ताः समस्ताः ।
इति दयितकलत्रश्चिन्तयन्नंगमिन्दु—
र्वहति कृशमशेषं भ्रष्टशोभ शुचेव ।।

भावार्थ—प्रभात होने पर चन्द्रमा की शोभा क्यो क्षीण हो जाती है? इस पर माघ कवि की कल्पना है—चन्द्रमा की एक स्त्री कुमुदनी (कुई) जो रात को खिली हुई थी वह सवेरे मुंद गयी। चन्द्रमा की दूसरी नायिका क्षपा (रात्रि) भी क्षय को प्राप्त हो गयी। तारिकाओ (तारो) के रूप मे अनेक और स्त्रियाँ

चन्द्रमा की थी, जिनके साथ वह विहार कर रहा था, वे भी एक-एक करके उसको छोडकर चली गयी। सबो ने उसका साथ छोड दिया। इसी सोच मे मानो चन्द्रमा का शरीर क्षीण और दुबला हो गया है और उसकी सारी कान्ति लोप हो गयी है।

७६

कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः॥

भावार्थ.—माघ कवि प्रभात काल के वर्णन मे लिखते है—एक ओर कुमुदो के वन शोभारहित होकर अपने भाग्य को रो रहे है तो दूसरी ओर कमल के वन अद्भुत शोभा धारण कर हँस से रहे है। एक ओर उल्लू सूर्य का प्रकाश होने से भय के मारे अपनी प्रसन्नता त्याग रहे हैं तो दूसरी ओर चकवा चकई पुनर्मिलन की आशा से प्रसन्न हो रहे हैं। इसी तरह एक ओर उष्णाशु सूर्य उदय को प्राप्त हो रहा है तो दूसरी ओर शीताशु चन्द्रमा अस्त हो रहा है—यह कुटिल भाग्य का अनोखा मेल है।

७७

करनखरविदीर्णध्वान्तकुंभोन्द्रकुंभात्
तुहिनकणमिषेण क्षिप्तमुक्ताप्ररोहः।

अयमुदयधरित्रीधारिमूर्धाधिरूढ़ो
नयनपथमुपेतो भानुमत्केसरीन्द्रः ॥

भावार्थः—इस श्लोक मे सूर्य की उपमा एक सिंह से दी गयी है। प्रात काल सूर्यरूपी सिंह ने अन्धकाररूपी हाथी के मस्तक को अपने किरणरूपी नखो से विदीर्ण कर दिया है। मस्तक विदीर्ण होने से जो मोती उसमे से गिरे हैं वही ओस की बूंदो के रूप मे चारो ओर बिखरे हुए दिखाई पड रहे हैं। वही सूर्यरूपी सिंह अपने अन्धकार रूपी शत्रु को पछाडने के बाद देखो, उदयाचल पर्वत की चोटी पर चढकर कैसे गर्व के साथ बैठा हुआ है।

७८

अयमुदयति मुद्राभंजन. पद्मनीना-
मुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम् ।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन्
कुपितकपिकपोलक्रोड़ताम्रस्तमासि ॥

भावार्थः—यह देखो गुस्से से भरे हुए बन्दर के गाल के समान लाल-लाल सूर्य, कमलो के समूह को प्रफुल्लित करता हुआ, रात भर एक-दूसरे से वियुक्त चकवा-चकई के जोडो को फिर से मिलाता हुआ तथा अन्धकार के समूह को भेदता हुआ, उदयाचल पर्वत के वनो मे खिले हुए मन्दार वृक्ष के फूल के समान, उदय हो रहा है।

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना—
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु ॥

भावार्थः—कालिदास के शकुन्तला नाटक मे प्रभात के वर्णन में यह श्लोक है—एक ओर चन्द्रमा जो आकाश मे चढा हुआ था, अब काल के चक्कर मे पडकर अस्ताचल की ओर जा रहा है। दूसरी ओर सूर्य, जो पतनावस्था को प्राप्त हो गया था, अब आकाश मे फिर उदय हो रहा है। चन्द्रमा और सूर्य दोनो एक साथ अपने उत्थान और पतन से मानो लोगो को यह ढाढस दे रहे है कि जिसका उत्थान है उसका पतन भी हो सकता है और जो गिरा है वह उठ भी सकता है।

८०

उदयमुदितदीप्तिर्याति यः संगतौ मे
पतति न वरमिन्दुः सोऽपरामेष गत्वा
स्मितरुचिरिव सद्यः साभ्यसूय प्रभेति
स्फुरति विशदमेषा पूर्वकाष्ठांगनायाः ॥

भावार्थः—प्रभात काल मे चन्द्रमा पश्चिम दिशा मे डूब जाता है और पूर्व दिशा मे हलकी-सी प्रभा फैलने लगती है—

इस पर माघ कवि की कल्पना है—"जो चन्द्रमा मेरा साथ करने से उदयाचल मे प्रकाशित होकर आकाश मे निरन्तर अभ्युदय को प्राप्त हुआ था, वही चन्द्रमा अब देखो पश्चिम दिशा रूपी परनारी के यहाँ जाने से पतित होकर कैसी शोचनीय दशा को प्राप्त हो रहा है"—यह सोचकर ईर्षा के मारे पूर्व दिशा अपनी हलकी प्रभा के रूप मे मानो मुस्का रही है। प्रभात काल मे पूर्व दिशा मे जो हलकी-सी प्रभा छा जाती है वही उसकी मुस्कान है।

८१

विततपृथुवरत्रातुल्यरूपैर्मयूखैः
कलश इव गरीयान्दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृतचपलविहंगालापकोलाहलाभि-
र्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः॥

भावार्थः—प्रभात काल मे सूर्य का गोला समुद्र के बीच से उदय हो रहा है, उसकी लम्बी-लम्बी किरणें ऊपर की ओर दसो दिशाओ मे फूटकर फैल रही है, पक्षी चारो ओर चहचहा रहे हैं—इस पर माघ कवि की अनोखी कल्पना है। इस श्लोक मे माघ कवि ने सूर्य की उपमा एक भारी घडे से, सूर्य से फूटती हुई किरणो की उपमा लम्बी मोटी रस्सियो से, दिशाओ की उपमा पनिहारिनो से और चारो ओर चहचहाते हुए पक्षियो के कोलाहल की उपमा पनिहारिनो के कल-कल शब्द से दी है। जिस प्रकार सवेरे प्रात काल कई पनिहारिनें एक साथ मिलकर

किसी भारी घडे को मोटी लम्बी रस्सी से, कूप से खीचकर, निकालती हैं और उस समय उनके मुख से कल-कल शब्द निकलते हैं, उसी प्रकार प्रभातकाल मे दसो दिशाएँ रूपी पनिहारिनें सूर्यरूपी घडे को, लम्बी किरणरूपी रस्सी से, समुद्र रूपी कूप से खीचकर निकाल रही है। उसी समय चिडियो का जो चहचहाना है वही उन दिशारूप पनिहारिनो का कल-कल शब्द है।

८२

उत्सिक्तः कुसुमासवैः कुमुदिनीं राजप्रियां पुष्पिणी-
मालिंगन्निशि निर्भयं परिचयं कुर्वन्पुन. पल्लवैः ।
यावत्पंकजसौरभस्वमखिलं गृह्णंल्लघु प्रस्थित-
स्तावत्कल्य उपस्थिते मरुदयं विश्रम्भयाद्धावति ॥

भावार्थ—रात भर वायु पुष्पो के रस को पीकर मतवाला हो गया, चन्द्रमारूपी राजा की रानो कुमुदिनी का आलिंगन किया, वृक्षो के पल्लवो (आवारा लोगो) के साथ मटरगस्ती की और अब ज्यो ही कमलो के सौरभरूपी धन को चुराकर भागना चाहता है कि इतने में सवेरा हो गया और कही पकडा न जाऊँ, इसी भय से जहाँ स्थान मिलता है वहाँ वायु भागा जा रहा है।

सूर्यास्त और चन्द्रोदय

८३

सन्ध्याशोणाम्बरजवनिका, कामिनोः प्रेम नाट्यं,
नान्दी भ्राम्यद्भ्रमरविरुतं, मारिषः कोऽपि काल. ।
तारापुष्पांजलिमिव किरन्, सूचयन् पुष्पकेतो-
र्नृत्यारंभं, प्रविशति सुधादीधितिः सूत्रधारः ॥

भावार्थः—इस श्लोक मे कवि ने सन्ध्या के वर्णन मे नाटक का बडा सुन्दर रूपक बांधा है—

सन्ध्याकालीन लाल आकाश इस नाटक का पर्दा है, कामी पुरुष और कामिनी स्त्रियो का जो परस्पर प्रेम है वही इस नाटक का प्लाट (कथानक) है, इधर-उधर उडते हुए भौंरो का गुंजन ही इस नाटक का नान्दी पाठ है, कोई ऐसा सोहावना जो सध्या काल है वही मारिष (सहायक सूत्रधार) है; और चन्द्रमा ही इस नाटक का सूत्रधार है, जो ताराख्पी पुष्पो को बिखेरता हुआ और इस बात को सूचित करता हुआ कि अब कामदेव का नृत्य आरम्भ होने वाला है, आकाशरूपी स्टेज (रगमच) पर देखो प्रवेश कर रहा है।

८४

व्यसनिन इव विद्या क्षीयते पंकजश्रीः
गुणिन इव कुदेशे दैन्यमायान्ति भृंगाः ।

कुनृपतिरिव लोकान् पीड़यत्यन्धकारो
धनमिव कृपणानां व्यर्थतां याति चक्षुः ॥

भावार्थः—सायकाल में कमलो की शोभा वैसे ही क्षीण हो जाती है जैसे कि दुर्व्यसन मे पडे हुए विद्यार्थी को विद्या क्षीण हो जाती है। कमलो के मुंद जाने से भौरे वैसे ही दीनता को प्राप्त हो रहे है, जैसे कि खराब देश मे पहुँचकर, गुणो की कदर न होने से, गुणी मनुष्य दीन हो जाते है। अन्धकार लोगो को वैसे ही पीडा दे रहा है जैसे कि दुष्ट अत्याचारी राजा अपनी प्रजा को पीडा देता है। अन्धकार के कारण आँखो की ज्योति वैसे ही व्यर्थ हो रही है जैसे कि सूम का धन व्यर्थ ही जाता है जो न दिया जाता है, न भोगा जाता है।

८५

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि॥

भावार्थः—डूबते हुए सूर्य को उसकी हजार किरणें भी न बचा सकी। इस पर माघ कवि की सुन्दर उक्ति है—जब भाग्य प्रतिकूल हो जाता है तो कितने ही साधन क्यो न हो और कितने ही उपाय क्यो न किये जाँय, सब विफल हो जाते है। सूर्य को ही देखो, जब वह गिरने लगता है—अस्त होने लगता है—तो उसके हजार किरणरूपी हाथ भी उसको सहारा देकर उठा नही सक्ते। 'कर' मे उत्तम श्लेप है—कर का अर्थ 'किरण' और 'हाथ' दोनो है।

८६

अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधतं वपुः सुखमतापकरम् ।
निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका ॥

भावार्थः—संध्या समय सूर्य पश्चिम दिशा में प्रभारहित होकर अस्त हो गया इस पर माघ कवि की अनोखी उक्ति है—जिस प्रकार वेश्या उस पुरुष को, जो कितना ही सुन्दर क्यों न हो, कितना ही प्रेम क्यों न करता हो, पर निर्धन हो जाने पर, अपने घर से निकाल देती है। उसी प्रकार पश्चिम दिशा रूपी वेश्या ने अनुराग (ललाई) रखते हुए भी, नेत्रो को सुख देते हुए भी, सुन्दर दर्शनीय शरीर वाला होते हुए भी सूर्य को—क्योकि अब उसके पास वसु (किरणरूपी धन) नही रह गया था—आकाशरूपी घर से निकाल बाहर किया। 'अनुराग' और 'वसु' मे अच्छा श्लेष है। अनुराग का अर्थ 'प्रेम' और 'ललाई' तथा वसु का अर्थ 'किरणें' तथा 'धन' दोनों हैं।

८७

महद्भिरोघैस्तमसामभिद्रुतो
भयेऽप्यसम्मूढमतिर्भ्रमन् क्षितौ ।
प्रदीपवेषेण गृहे गृहे स्थितो
विखण्ड्य देहं बहुधेव भास्करः ॥

भावार्थः—यद्यपि सूर्य अन्धकार के समूह से पराजित किया और भगाया गया, तथापि वह घवडाया नही, बल्कि उसने

अपने शत्रु अन्धकार का सामना करने के लिए एक दूसरी तरकीब ढूँढ निकाली अर्थात् दिन में वह केवल एक था, पर अब वह अपने शरीर के बहुत से टुकड़े करके प्रदीप तथा लैम्प के वेश में, घर-घर में विराजमान हो गया है।

८८

कृत्वा प्रबुद्धकमलामखिलां त्रिलोकी-
मम्भोनिधेर्विशति गर्भमसाविदानीम्।
अन्तःप्रसुप्तहरिनाभिसरोजबोध-
कौतूहलीव भगवानरविन्दबन्धुः॥

भावार्थः—अरविन्दबन्धु भगवान् सूर्य समस्त लोक में कमलों को प्रफुल्लित करके, अब सायंकाल होने पर, समुद्र के गर्भ में लीन हो रहे हैं, मानो वहाँ क्षीर सागर के अन्दर सोये हुए विष्णु भगवान् की नाभि में जो कमल है, उसको विकसित करना चाहते हैं। समस्त संसार के कमलों को तो विकसित कर चुके हैं, केवल भगवान् विष्णु की नाभि से उगा हुआ कमल प्रफुल्लित होना बच गया है, बस उसी को प्रफुल्लित करने के लिए, अब वह समुद्र के गर्भ में प्रवेश कर रहे हैं।

८९

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-
न्यन्तर्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम्।

द्वीपाद्द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धांजनपरिमलं लांछनस्य च्छलेन ॥

भावार्थः—रात्रि एक कापाली है। वह चाँदनीरूपी भस्म को रमाये हुए, तारारूपी अस्थियों को धारण किये हुए, चन्द्रमारूपी खप्पर मे कलकरूपी भभूत को रखे हुए, एक द्वीप से दूसरे द्वीप मे भ्रमण कर रही है। जैसे कापाली कभी-कभी अन्तर्धान हो जाती है, उसी तरह रात्रि भी दिन मे छिप जाती है।

६०

कोऽत्र भूमिवलये जनान्मुधा तापयन्सुचिरमेति संपदम्।
वेदयन्निति दिनेन भानुमानाससाद चरमाचलं तत. ॥

भावार्थः—इस ससार मे व्यर्थ लोगो को सताकर कौन अधिक समय तक सपत्ति का भोग कर सकता है—इसी बात को सूचित करता हुआ, सूर्य मानो अस्त को प्राप्त हो रहा है। दिन भर सूर्य ससार को अपनी खरतर किरणो से तपाता रहता है—इसी अत्याचार का फल भोगने के लिए ही उसको दिवस के अवसान मे पतन देखना पडता है।

६१

अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन् नरान् ॥

भावार्थ—सायकाल मे प्रकाश-रहित और तेजोहीन होकर सूर्य धनवान् और भाग्यवान् मनुष्यो को यह शिक्षा देता

हुआ प्रस्तावना की ओर जा रहा है कि "जिसका एक बार उदय हुआ है उसका पतन भी अवश्य होगा, इसलिए धन का घमण्ड करना बिलकुल व्यर्थ है।"

९२

अप्राप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये
कलंको नैवायं विलसति शशांकस्य वपुषि ।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि ॥

भावार्थ—शिव पार्वती से कहते है—"हे शैल-तनये, यह जो पूर्णमासी के चन्द्रमा मे बड़ासा काला धब्बा दिखाई पड़ता है, वह कलक नही है। तो फिर है क्या ? वास्तव मे यह निशा-रूपी नायिका है, जो रति से थककर अपने प्रियतम चन्द्रमा की, अमृत के प्रवाह से शीतल गोद मे, गाढ निद्रा मे सो रही है।

९३

अंकं केऽपि शशंकिरे जलनिधेः पंकं परे मेनिरे
सारंगं कतिचिच्च संजगदिरे भूमेश्च बिंबं परे ।
इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकलश्याम दरीदृश्यते
तन्मन्ये रविभीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमालक्ष्यते ॥

भावार्थ.—चन्द्रमा मे जो यह काला धब्बा है उसे कोई समझते है कि यह कलक है, कोई यह मानते है कि चन्द्रमा समुद्र से मथकर निकाला गया है, अतएव यह काला धब्बा समुद्र का

कीचड है, जो उसमे लगा रह गया है। कोई उसे मृग समझते है, इसी से चन्द्रमा 'मृगलाछन' कहा गया है। कोई उसे चन्द्रमा पर पडी हुई पृथ्वी की छाया मानते हैं। पर मैं तो यह समझता हूँ कि चन्द्रमा मे जो यह नीलम के टुकडे के समान काला धब्बा दिखाई देता है वह अन्धकार है, जो सूर्य के डरके मारे चन्द्रमा की गोद मे शरण लेकर जा छिपा है। इसी भाव को लेकर हिन्दी के स्वर्गीय कवि श्री गोपाल शरण सिंह ने यह पद्य लिखा है :—

है मयक-अक मे कलक कहता है कोई ,
कोई बतलाता उसे मेदिनी की छाया है।
कोई कहता है वह पक है पयोनिधिका ,
उसे मृग-शावक किसी ने ठहराया है ॥
मेरी जान मन मे विरचि ने विचारा जब ,
कैसा कमनीय मैंने विधु को बनाया है।
लग जाय डीठ न किसी को यह भय मान ,
रुचिर डिठौना चन्द्रभाल मे लगाया है ॥

९४

लक्ष्मीक्रीड़ातड़ागो रतिधवलगृहं दर्पणो दिग्वधूनां
पुष्पं श्यामालतायास्त्रिभुवनजयिनो मन्मथस्यातपत्रम्।
पिण्डीभूतं हरस्य स्मितममरसरित्पुण्डरीकं मृगांको
ज्योत्स्नापीयूषवापी जयति सितवृषस्तारकागोकुलस्य ॥

भावार्थः—इस श्लोक मे चन्द्रमा के बारे मे कई अनूठी

कल्पनाएँ हैं—यह चन्द्रमा लक्ष्मी का क्रीडा सरोवर है, या कामदेव की स्त्री, रति का सफेद घर है, या दिशा रूपी वधूटियो के मुख देखने का दर्पण है, या रात्रि रूपी लता का सफेद फूल है, या तीनो लोको को विजय करने वाले कामदेव सम्राट् का श्वेत छत्र है, या महादेव जी ने अट्टाहस किया है वही हास्य पिण्डीभूत होकर चन्द्रमा बन गया है, या आकाश-गगा मन्दाकिनी मे खिला हुआ सफेद कमल है, या चान्दनी रूपी अमृत का सरोवर है अथवा तारा रूपी गौवो के बीच यह सफेद बैल है।

९५

दिग्बालाकरकन्दुकः स्मरवधूसीमन्तमुक्तामणिः
कामक्षोणिपतेर्विहारवलभीनिर्व्यूहपारावतः ।
हट्टव्योम्नि विकीर्णतारकमणिः श्यामावणिक् सुभ्रुवः
स्फारः स्फाटिकसंपुटः कुमुदनीकान्तोऽयमुन्मीलति ।।

भावार्थ—देखो, उदय होता हुआ कुमुदनीकान्त चन्द्रमा ऐसा लगता है मानो दिशा रूपी नायिका के हाथ में खेलने का गेन्द हो, या कामदेव की स्त्री रति के केशो मे गुँथा हुआ मुक्तामणि हो, या कामदेव रूपी राजा के महल के छज्जे पर बैठा हुआ सफेद कबूतर हो, या आकाश रूपी बाजार मे असख्य तारा रूपी मणियो को बिखेर कर बेचने के लिए बैठा हुआ कोई जौहरी हो, या रात्रिरूपी नायिका का शृगार का सामान रखने के लिए स्फटिक की बनी हुई पिटारी हो।

९६

कपाले मार्जारः पय इति कराँल्लेढि शशिन—
स्तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी संकलयति ।
रतान्ते तल्पस्थान्हरति वनिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति ॥

भावार्थ —कटोरे पर पडती हुई चन्द्रमा की चांदनी को बिलार यह समझकर कि दूध है, जीभ से चाट रहा है। पेड के पत्तो से छन-छन कर आती हुई किरणो को हाथी, यह समझकर कि कमल की नाल है, सूंड से उखाड रहा है। रति के अन्त मे पलग पर पडी हुई चन्द्रमा की चान्दनी को स्त्री यह समझकर कि साडी है, उसे समटने के लिए पलग पर हाथ फेर रही है। इस प्रकार प्रभा के मद मे मतवाला होकर चन्द्रमा समस्त जगत् को चक्कर मे डाल रहा है।

९७

स्वर्वामामृतपानचारुचषकं किं कामदेवागना—
क्रीडाकन्दुक एव किं सुरनदीडिण्डीरपिण्डः किमु ।
किं छत्र स्मरभूपते· किमु यश.पुजं पुरस्तादिदं
चेतः संशयकारक समुदितं शीतद्युतेर्मण्डलम् ॥

भावार्थ —सामने आकाश मे उदित हुआ यह चन्द्रमा चित्त मे ऐसा सन्देह पैदा करता है कि यह स्वर्ग की अप्सराओ के अमृत पीने का प्याला है क्या ? कामदेव की स्त्री रति के खेलने

का गेन्द है क्या ? सुर-नदी गंगा के फेनों का समूह है क्या ? कामदेव रूपी राजा का छत्र है क्या ? अथवा उस के यश का समूह है क्या ?

९८

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशि-
र्नैताश्च ताराः नवफेनभंगाः ।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो
नासौ कलंकः शयितो मुरारिः ॥

भावार्थः—चन्द्रमा के वर्णन में एक कवि कहता है—यह आकाश नहीं, बल्कि क्षीर सागर है ; ये तारे नहीं, बल्कि क्षीर सागर के फेन हैं ; यह चन्द्रमा नहीं, बल्कि गोंडुरी मारे हुए शेषनाग है ; और चन्द्रमा में यह कलंक नहीं वरन विष्णु भगवान् हैं, जो शेषनाग पर सो रहे हैं ।

९९

त्रिनयनजटावल्लीपुष्पं निशावदनस्मितम्
ग्रहकिसलयं सन्ध्यानारीनितम्बनखक्षतिः ।
तिमिरभिदिदं व्योम्नः शृंगं मनोभुवकार्मुकम्
प्रतिपदि नवस्येन्दोर्बिम्बं सुखोदयमस्तु नः ॥

भावार्थः—इस श्लोक में प्रतिपदा के नये चाँद के सम्बन्ध में कवि ने कई अनोखी कल्पनाएँ की हैं—

पड़ीवा (प्रतिपदा) का यह नया चाँद त्रिनेत्र महादेव के जटा रूपी लता का फूल है क्या ? निशा रूपी नायिका के मुख की मुस्कान है क्या ? ग्रह रूपी वृक्ष की नई कोपल है क्या ? सन्ध्या रूपी नायिका के नितम्ब पर पड़ी हुई नखक्षति है क्या ? अन्धकार को भेदने के लिए आकाश रूपी बैल का नुकीला सींग है क्या ? संसार को जीतने के लिए कामदेव का बाण है क्या ? ऐसा प्रतिपदा का नवोदित चन्द्र हम सबों के लिए सुख-दायक हो !

१००

ओंकारो मदनद्विजस्य गगनक्रोडैकदंष्ट्रांकुर—
स्तारामौक्तिकशुक्तिरन्धतमसस्तम्बेरमस्यांकुशः ।
शृंगारार्गलकुंचिका विरहिणां मर्मच्छिदा कर्त्तरी
सन्ध्यावारवधूनखक्षतिरियं चान्द्री कला राजते ।।

भावार्थः—यह प्रतिपदा का बाँका चन्द्रमा ऐसा शोभा देता है कि मानो कामदेव रूपी ब्राह्मण का ओंकार रूपी सिद्धमन्त्र हो, जिसे उसने आकाश रूपी पट्टी पर लिख रखा है, अथवा आकाश रूपी वराह (सूअर) की बाहर निकली हुई एक डाढ़ हो, या तारा रूपी मोतियों की सीपी हो, या अन्धकार रूपी हाथी को वश में करने के लिये अंकुश हो, या शृंगार रूपी कपाट के खोलने की कुंजी हो, या विरहिणियों के मर्म-स्थान को कतरने के लिये कैंची हो, या संध्यारूपी वेश्या के शरीर पर लगा हुआ नखक्षत हो ।

१०१

अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
फुल्लत्कैरवकोषनिःसरदलिश्रेणीकृपाणं शशी ॥

भावार्थ :—"मानवती स्त्रियो के उस हृदय मे जो कुचरूपी पहाडी किलो से सुरक्षित है, मान अब भी टिका रहना चाहता है, धिक्कार है उसे।" ऐसा सोचकर सध्याकालीन चन्द्रमा क्रोध के मारे लाल हो गया और उसी समय दूर दूर तक फैले हुए अपने किरण रूपी हाथो से, फूली हुई कुई की कलियो से निकलती हुई भ्रमरो की पक्ति रूपी तलवार को, सहसा खीच लेता है, मानो इस अपनी तलवार से मान का काम तमाम करना चाहता है। दूर तक फैली हुई किरणें चन्द्रमा का हाथ हैं और खिली हुई कुई के फूलो से निकलती हुई भ्रमरो की कतार ही तलवार है। सध्याकाल मे चन्द्रमा लाल लाल उदय होता है वही उसका गुस्से से तमतमाया हुआ चेहरा है। सध्या काल के बाद चन्द्रमा के उदय होने पर, मानवती स्त्रियो का मान दूर हो जाता है, इस बात को कवि ने बडे सुन्दर ढग से कहा है।

जल-विहार

१०२

नेयं ते मुखमण्डलप्रतिकृतिश्छाया न हारोद्भवा
वक्षोजौ प्रतिबिम्बितौ न सलिले जाने हि तथ्यं प्रिये ।
अप्राप्याननसौभगं तव शशी मुक्तावितैर्दामभिः
कण्ठे हेमघटद्वयं परिदधत् पानीयमध्यं गतः ।।

भावार्थ —एक रसिक कवि अपनी प्रियतमा के साथ नदी मे जलक्रीडा करता हुआ, उसके मुख और वक्ष स्थल की छाया जल मे पडी हुई देखकर, कहता है —हे प्रिये ! यह जो तुम जल मे छाया देख रही हो वह तुम्हारे मुख की छाया नही है, और यह जो हार तुम पहने हुए हो उसकी भी परछाई नही है, और न तुम्हारे दोनो उरोजो का प्रतिबिम्ब ही यह दिखाई पड रहा है। तो फिर है क्या ? वास्तव मे यह चन्द्रमा है जो तुम्हारे मुख की सुन्दरता अपने मे न पाकर, मोती से गुँथी हुई डोरी से दो सोने के घडो को अपने गले मे बाधकर, लज्जा के मारे पानी मे डूब मरा है। अर्थात् मुख की छाया नही बल्कि शशी है, हार की परछाई नही बल्कि मोती से गुँथी हुई रस्सी है, पीनपयोधरो का प्रतिबिम्ब नही बल्कि दो घडे है, जिन्हें गले के दोनो ओर बाधकर चन्द्रमा पानी मे लज्जा के मारे डूब मरा है । इसका हिन्दी पद्यानुवाद किसी ने इस प्रकार किया है —

नाही या प्रतिविंव तो वदन को, छाया नही हार की।
तेरे द्वौ कुच को न भास जल मे, जानू भली भाति मैं ॥
शोभा ता मुख की न पाय शशि है, मुक्तावली सो बधे।
द्वै भारो लटकाय कुभ गल मे, बूडो परो नीर मे ॥

१०३

अजलौ जलमधीरलोचना लोचनप्रतिशरीरलाछितम् ।
आत्तमात्तमपि कान्तमुक्षितु कातरा शफरशंकिनी जहौ ॥

भावार्थ —एक स्त्री और उसका प्रियतम नदी मे जल-विहार कर रहे है। ज्योही वह चचल नेत्र वाली स्त्री अपनी अजली मे पानी भरकर, अपने प्रियतम को भिगोना चाहती है कि उस पानी मे अपने नेत्रो की छाया देखकर, यह शका करके कि छोटी मछली पानी मे तो नही आ गयी है—उस पानी को गिरा देती है। वह बार-बार इसी प्रकार अजली मे पानी लेती है और बार बार मछली की शका से गिरा देती है। उसके नेत्र मीन के नेत्रो के समान चचल हैं इस बात को कवि ने कैसी सुन्दर कल्पना के साथ कहा है।

१०४

निजनयनप्रतिबिम्बैरम्बुनि बहुश प्रतारिता कापि ।
नीलोत्पलेऽपि विमृशति करमर्पयितु कुसुमलावी ॥

भावार्थ —कोई स्त्री कमलो से भरे हुए सरोवर मे स्नान कर रही है। उसके कमल के समान नेत्रों की परछाई जल मे पडती है, जिन्हें वह बार-बार कमल समझ कर तोडना

चाहती है, पर बार बार धोखा खाती है। इस प्रकार बार-बार धोखा खायी हुई वह सचमुच के नीलकमलो को तोडने मे भी हिचकिचाती है।

१०५

अश्यद्भिर्जलमभि भूषणैर्वधूना-
मङ्गेभ्यो गुरुभिरमज्जि लज्जयेव।
निर्माल्यैरथ ननृतेऽवधीरिताना-
मप्युच्चैर्भवति लघीयसां हि धार्ष्ट्यम्॥

भावार्थ —नदी मे जल-विहार करते समय नायिकाओ के अगो से सोने के आभूषण गिर कर पानी मे डूब गए, परन्तु फूलो के हार, जो वह पहने हुए थी, उनके हाथो से फेंके जाने के बाद भी पानी मे नाचते रहे—इस पर माघ कवि की कल्पना है कि नायिकाओ के अगो से गिरे हुए सोने के आभूषण इस लिए लज्जा के मारे पानी मे डूब गए कि हम ऐसे सुन्दर अगो मे स्थान पाने के बाद वहाँ से च्युत हो गए—यह हमारे जैसे गौरवशाली लोगो के लिए डूब मरने की बात है। परन्तु फूलो के हार, उन नायिकाओ के हाथो से तिरस्कृत और फेंके जाने के बाद भी, जल मे नाचते रहे, क्योकि जो हलके और छोटे होते है, वे तिरस्कृत होने पर और भी निर्लज्ज हो जाते है।

१०६

वासांसि न्यवसत यानि योषितस्ताः
शुभ्राभ्रद्युतिभिरहासि तैर्मुदेव।

अत्याक्षुः स्नपनगलज्जलानि यानि
स्थूलाश्रुस्रु तिभिररोदि तैः शुचेव ॥

भावार्थ :—नायिकाओं ने जल-विहार करने के बाद गीले कपड़ों को त्याग दिया और शुभ्र चमकीले वस्त्रों को धारण किया—इस पर माघ कवि की उत्प्रेक्षा है :—उन नायिकाओं ने शुभ्र आकाश के समान जिन श्वेत चमकीले वस्त्रों को धारण किया, वे मानो प्रसन्न होकर हँस-सा रहे थे कि हम को ऐसी सुन्दर नारियों ने अपने शरीर पर धारण किया है। तथा जिन गीले वस्त्रों का उन्होंने त्याग किया और जिनमें से पानी टपक रहा था, वे मानो बड़े-बड़े आँसू बहाते हुए इस दुःख में कातर होकर रो रहे थे कि हमें ऐसी सुन्दरी नायिकाओं ने अपने शरीर से त्याग दिया है, हम कितने अभागे हैं।

१०७

आरूढः पतित इति स्वसंभवोऽपि
स्वच्छानां परिहरणीयतामुपैति।
कर्णेभ्यश्च्युतमसितोत्पलं वधूनां
वीचीभिस्तटमनु यन्निरासुरापः ॥

भावार्थ :—नायिकाएँ नदी में स्नान कर रही हैं। वहाँ जल-विहार करते समय उनके कानों से, अलंकार के रूप में लगा हुआ कमल का पुष्प, पानी में गिर गया और पानी की लहरों ने उसको नदी के किनारे फेंक दिया। इस पर माघ

कवि की कल्पना है कि अपने से ही क्यो न उत्पन्न हुआ हो, यदि कोई ऊंचे पद पर पहुँचकर फिर गिर जाय, पतित हो जाय, तो निर्मल चरित्र वाले कुलीन लोग अपने पुत्र को भी घर से निकाल देते हैं। उसी प्रकार यह सोचकर कि मेरे से उत्पन्न हुआ कमल इन सुन्दरी नायिकाओं के कानो-जैसे उच्च स्थान पर चढकर और वहाँ सुशोभित होने के बाद नीचे गिर गया, धिक्कार है इसको, अतएव जल ने उसको लहरो के थपेडे मार कर किनारे पर फेंक दिया कि जा घर से निकल जा, तेरा मेरे यहाँ कोई स्थान नही है।

१०८

कुर्वद्भिर्मुखरुचिमुज्ज्वलामजस्रं
यैस्तोयैरसिचत वल्लभा विलासी।
तैरेव प्रतियुवतेरकारि दूरात्
कालुष्य शशधरदीधितिच्छटाच्छै ॥

भावार्थ —एक विलासी नायक अपनी दो नायिकाओ के साथ जलविहार कर रहा है। उसने अपनी एक प्रियतमा नायिका के मुख की कान्ति को लगातार जल की छीटे मार कर और भी उज्ज्वल बना दिया। किन्तु जिस जल से उस नायिका का मुख उज्ज्वल हुआ, उसी चन्द्रमा की किरणो के समान स्वच्छ जल से, दूर स्नान करती हुई दूसरी नायिका का मुख ईर्ष्या से काला पड गया। मेरी अवहेलना करके मेरी सौत के साथ जल-विहार कर रहा है, इससे ईर्ष्या के मारे उसका

मुख काला पड़ गया। एक ही जल से एक का मुख स्वच्छ हो गया और दूसरी का काला हो गया यह विषमालंकार का उत्तम उदाहरण है। यह श्लोक माघ कवि के शिशुपाल-वध में जलविहार के वर्णन में आया है।

विरह-वेदना

१०६

अंगानि मे दहतु कान्तवियोगवह्निः
संरक्ष्यतां प्रियतमो हृदि वर्तते यः ।
इत्याशया शशिमुखी गलदश्रुवारि-
धाराभिरुष्णमभिषिंचति हृत्प्रदेशम् ॥

भावार्थ :—अपने प्रियतम के वियोग मे कोई स्त्री आसुओ की धारा बहाकर अपने वक्ष स्थल को भिगो रही है। इस पर कवि की उत्प्रेक्षा है—"प्रियतम के वियोग की अग्नि चाहे मेरे शरीर के अगो को भस्म करदे, किन्तु मेरे हृदय मे निवास करने वाले मेरे प्रियतम का इस आग की आच भी न लगने पावे।"—बस इसी अभिप्राय से वह चन्द्रमुखी लगातार आसू बहाकर अपने वियोग-तप्त हृदय-स्थान को सीच रही है। वियोग मे उसके अश्रु की धारा आँखो से वहकर लगातार छाती पर गिर रही है—इस इतनी सी वात को कवि ने कैसे अनोखे ढग से कहा है।

११०

पंचत्वं तनुरेतु भूतनिवहः स्वं स्वं विशत्वीप्सितं
याचे त्वां द्रुहिण प्रणम्य शिरसा भूयोऽपि भूयान्मम ।

तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयालय-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ॥

भावार्थ :—कोई विरहिणी परमेश्वर से प्रार्थना करती हुई कहती है :—मेरा शरीर पचत्व को प्राप्त हो और शरीर के पृथ्वी आदि पाँचो तत्त्व यथाक्रम अपने-अपने तत्त्व मे जाकर मिल जाय—इसका मुझे कोई डर नही है। किन्तु परमेश्वर से हाथ जोडकर प्रार्थना है कि मेरे पाँचो तत्त्व अपने-अपने तत्त्व मे इस क्रम से मिलें कि मेरे शरीर का जलतत्त्व उस सरोवर मे जाकर मिल जाय जिसमे मेरा प्रियतम स्नान करता है, मेरा तेजस्तत्त्व उस दर्पण मे जाकर मिल जाय जिसमे वह अपना मुख देखता है, मेरा आकाश तत्त्व उस गृह के आकाश मे जाकर मिल जाय जहाँ वह रहता है, मेरा पार्थिवतत्त्व उस मार्ग मे जाकर मिल जाय, जहाँ वह चला करता है और मेरा वायुतत्त्व उस पखे मे जाकर मिल जाय जिससे वह हवा लेता है। इसी भाव का यह हिन्दी दोहा भी है :—

डर न मरन विधि विनय यह, भूत मिले निजवास।
प्रियहित वापी मुकुर मग, बीजन अँगन अकास॥

१११

आयाता मधुयामिनी यदि पुनर्नायात एव प्रभुः
प्राणा यान्तु विभावसौ यदि पुनर्जन्मग्रहं प्रार्थये।
व्याधः कोकिलबन्धने हिमकरध्वंसे च राहुग्रहः
कन्दर्पे हरनेत्रदीपितिरहं प्राणेश्वरे मन्मथः॥

भावार्थ :—वसन्त ऋतु के आने पर कोई विरहिणी कहती है —वसन्त ऋतु की रात आ गयी, पर मेरे स्वामी अभी तक नही आये। इस विरह मे जीने से क्या लाभ ? अच्छा है कि मेरे प्राण अग्नि के समर्पण हो जाय और उसके बाद मेरा पुनर्जन्म हो तो भगवान् से प्रार्थना है कि अपनी कृपा से मेरे विरह-सन्ताप को बढाने वाली कोयल को फसाने के लिए मैं व्याधा होऊ, विरहाग्नि को उद्दीपित करने वाले चन्द्रमा को ग्रसने के लिए मैं राहु होऊ, विरहिणियो को सताने वाले कामदेव को जलाने के लिए भगवान् शिव के तीसरे नेत्र की अग्नि होऊ और अपने प्रियतम को प्रसन्न करने के लिए कामदेव का अवतार होऊ।

११२

विरमत विरमत सख्यो नलिनीदलतालवृन्तपवनेन ।
हृदयगतोऽयं वह्निर्झटिति कदाचिज्ज्वलत्येव ॥

भावार्थ —कोई कोमलागी नायिका विरह ज्वर से पीडित है। उसकी सखियाँ कमलदल से उसे पखा झल रही हैं। इस पर वह उनसे कहती है :— 'सखियो, कमल दल से पखा मत झलो ! मत झलो ! अभी तो मेरे हृदय मे विरह की आग धीरे-धीरे सुलग रही है, पखा झलने से कही वह एकदम से भडक न उठे।"

११३

कुशलं तस्या जीवति तत्कुशलं पृच्छामि जीवतीत्युक्तम् ।
पुनरपि तदेव कथयसि मृता नु कथयामि या श्वसिति ॥

भावार्थः—कोई प्रेमी अपनी प्रियतमा का कुशल मंगल एक दूती से पूछ रहा है, जो अभी उसकी प्रियतमा का सन्देश लेकर आयी है। इस श्लोक में इन्हीं दोनों की बातचीत है। श्लोक कितना भावपूर्ण है देखिये :—प्रियतम—"उसको कुशल तो है ?" दूती—"हां, जीती है !" प्रियतम—"अरे, हम उसकी कुशल पूछते हैं ?" दूती—"कह तो दिया कि जीती है।" प्रियतम, "फिर-फिर उसी बात को कहे जाती हो।" दूती—"तो क्या कह दूं कि वह मर गयी, जो अभी साँस ले रही है ?" आपके वियोग में वह किसी तरह जी रही है—इस इतनी सी बात को कवि ने कैसे व्यंग-पूर्ण शब्दों में कहा है।

११४

अस्मत्प्रयाणसमये कुरु मंगलानि
किं रोदिषि प्रियतमे वद कारणं मे ।
हे प्राणनाथ विरहानलतीव्रताप-
धूमेन वारि गलितं मम लोचनाभ्याम् ॥

भावार्थः—पति के परदेश जाने के समय पत्नी रोने लगी। इस पर पति कहता है—"प्रियतमे ! मेरे प्रस्थान करने के समय तुम्हें मंगलाचार करना चाहिये, सो न कर तुम रो रही हो। क्या बात है, कारण तो बताओ ?" इस पर वह उत्तर देती है—"हे प्राणनाथ ! तुम्हारे वियोग रूपी अग्नि से उठा हुआ धुआं मेरी आंखों में लगा है, उसी धुएं से मेरी आंखों से आंसू बहने लगे हैं, और कोई बात नहीं है।"

११५

तव विरहविधुरबाला सद्यः प्राणान् विमुक्तवती ।
दुर्लभमीदृशमंगं मत्वा न ते तामजहुः ।।

भावार्थः—एक दूती किसी विरह-विधुरा स्त्री की मरणासन्न दशा का वर्णन उसके प्रेमपात्र से करती हुई कहती है—तुम्हारे विरह मे व्याकुल होकर उस बाला ने तुरन्त ही अपने प्राणो को छोड दिया। किन्तु उन प्राणो ने यह सोचा कि ऐसे कोमल अग रहने को कहाँ मिलेंगे, इसलिए उन्होने उसे नही छोडा। "वह अब तक जी रही है और विरह के दिनो को किसी तरह काट रही है" इस इतनी-सी बात को कवि ने कैसे अनोखे ढग से कहा है।

११६

यामीति प्रियपृष्टायाः प्रियायाः कण्ठवर्त्मनि ।
वचोजीवितयोरासीद्वहिर्निःसरणे रणः ॥

भावार्थ—पति के विदा होते समय पत्नी दु ख से स्तब्ध होकर कुछ बोली नही, चुप रही—इस बात को कवि ने कैसी खूबी के साथ इस श्लोक मे कहा है। "प्रिये! मैं जा रहा हूँ, मुझे विदा दो," पति के इस प्रकार विदा माँगने पर पत्नी का गला रुँध गया और बेचारी कुछ बोल न सकी। इस पर कवि की सूझ है कि उसके चुप रहने का असली कारण यह था कि उसके प्राणो और वचनो के बीच कण्ठ-रूपी युद्धभूमि में रण ठन गया। वचन कहते थे कि पहले हम कण्ठ से निकले और

प्राण चहते थे कि पहले हम निकलें। बस इसी झगड़े में वह बेचारी बोल न सकी। इसी भाव का हिन्दी का यह दोहा भी है—

> आज सखी हौं सुनति हौं, पी फारत पिय गौन।
> पीमे हियमे होड़ है, पहिले फारत कौन॥

११७

महिलासहस्सभरिते तव हृदये सुभग सा अमान्ती।
अनुदिनमनन्यकर्मा अंगं तनुमपि तनूकरोति॥

भावार्थः—एक दूती किसी विरह-विधुरा बाला की दशा का वर्णन उसके प्रियतम से इस प्रकार करती है—हे सुभग! तुम्हारे उस हृदय में प्रवेश पाने के लिए, जिसमें सहस्रों स्त्रियाँ भरी हुई हैं, अतएव जिसमें अब बिलकुल स्थान नहीं रह गया है, वह अभागिनी अपने शरीर को, जो आप ही कोमल और दुर्बल है, दिन-प्रतिदिन और भी दुर्बल बना रही है कि कदाचित् अब प्रवेश पा सके, आजकल उसे केवल यही काम रह गया है। तुम्हारे वियोग में कितनी दुर्बल हो गयी है—इस इतनी-सी बात को कवि ने कैसे सुन्दर ढंग से कहा है।

११८

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।

सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥

भावार्थः—एक बहुत ही भोली-भाली, पतिप्राणा, नववयस्का, मुग्धा नायिका है, जो जानती भी नही कि पति से रूठना या मान करना कैसे होता है। इसका अनुचित लाभ उठाकर उस का धूर्त पति मनमानी किया करता है। इस पर उसकी एक प्रौढा सखी उसे मानवान के साथ रहने की सलाह देती हुई कहती है—"ऐ भोली-भाली! क्या अपनी सारी जवानी इसी तरह अल्हडपन मे बिताना चाहती है? तनिक अभिमान किया कर और धैर्य के साथ रहना सीख। अपने प्रियतम के साथ सीधा-सादा व्यवहार करना छोड दे।" अपनी सखी से इस प्रकार समझाई गयी उस मुग्धा ने जवाब दिया—"अरे धीरे से बोल, मेरे हृदय मे बैठे हुए मेरे प्राणनाथ कहीं सुन न लें।" अमरु कवि के इसी श्लोक का भाव लेकर विहारी का यह दोहा भी है—

सखी सिखावत मानविधि, सैननि बरजति बाल।
हरुए कहु मो हिय बसत, सदा विहारी लाल॥

११६

यामः सुन्दरि याहि पान्थ दयिते शोकं वृथा माऽकृथाः
शोकस्ते गमने कुतो मम ततो वाष्पं कथं मुंचसि।
शीघ्रं न व्रजसीति मा गमयितुं कस्मादियं ते त्वरा
भूयानस्य सह त्वया जिगिमिषोर्जीवस्य मे संभ्रमः॥

भावार्थः—पति परदेश जाने को तैयार है, उस समय पति-पत्नी मे जो बातचीत हुई वही इस श्लोक मे है। पति—"प्रिये! मैं जा रहा हूँ।" पत्नी—"जाइये नाथ।" पति—"प्रियतमे! वृथा शोक मत करो।" पत्नी—"भला तुम्हारे जाने से मुझे शोक क्यो होने लगा ?" पति—"तो फिर आँसू क्यो बहा रही हो ?" पत्नी—"इसलिए कि तुम जल्दी क्यो नही चले जाते।' पति—"प्रिये! मैं चला जाऊँ इसके लिए तुम इतनी उतावली क्यो हो रही हो ?" पत्नी—"मैं उतावली नहीं हूँ, मेरे प्राण उतावले हो रहे हैं कि तुम बाहर निकलो तो वे भी तुम्हारा साथ देने के लिए मेरे शरीर से निकलें।" तुम्हारे चले जाने के बाद मैं जीवित नही रहूँगी—इस बात को अमरु कवि ने कैसे अनोखे ढंग से कहा है। एक उर्दू का शेर भी है—

पिया जो यार ने हमसे पयाम रुखसत का।
तो दम निकल गया सुनते ही नाम रुखसत का॥

१२०

बाले नाथ विमुंच मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि।
तत्किं रोदिषि गद्‌गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते॥

भावार्थ:—रानी रूठी हुई है। पति के मनाने पर जो प्रश्नोत्तर हुए वही अमरु कवि ने इस श्लोक मे है। पति—'प्रिये!' पत्नी—'क्या प्राणनाथ?' पति—'हे मानिनि, क्रोध छोड

दो ! पत्नी—'मैं क्रोध करके कर ही क्या सकती हूँ ?' पति—'मेरे ऊपर खेद।' पत्नी—'भला मैं खेद क्यों करने लगी ? क्या आपने कोई अपराध किया है ? अपराध तो सब मैंने ही किये हैं।' पति—'तो फिर गद्गद् कंठसे रो क्यों रही हो?' पत्नी—'किसके आगे रो रही हूँ ?' पति—'मेरे आगे तो रो रही हो।' पत्नी—'मैं आपकी क्या हूँ जो आपके आगे रोऊं ?' पति—'तुम मेरी प्रियतमा हो !' पत्नी—'प्रियतमा नही हूँ, इसी से तो रो रही हूँ।' इसी भाव का पद्माकर का एक हिन्दी पद्य भी है—

ए बलि कहो हो किन का कहत कंत ,
अरी रोस तज रोस कै कियो मैं का अचाहे को।
कहै पदमाकर यहै तो दुख दूरि करौ ,
दोप न कछु है तुम्हें नेह निरवाहे को।
तापै इत रोवतो कहा है कहो कौन आगे ,
मेरेई जु आगे किये आंसुन उमाहे को।
का हौ मैं तिहारी तू तो मेरो प्रानप्यारी ,
अजी होती जो पियारी तव रोती कहो काहे को ॥

१२१

मा याहीत्यपमंगलं व्रज किल स्नेहेन शून्यं वच-
स्तिष्ठेति प्रभुता यथारुचि कुरुष्वैवाप्युदासीनता।
नो जीवामि विना त्वयेति वचनं संभाव्यते वा न वा
तन्मां शिक्षय नाथ यत्समुचितं वक्तुं त्वयि प्रस्थिते ॥

भावार्थ :—पति के परदेश जाने के समय पत्नी कहती है—

"आप मत जांय" यदि यह कहूँ तो अमंगल की बात होगी, "आप जाय" यह कहूँ तो यह स्नेह से शून्य बात समझी जायगी, "ठहरो" यदि यह कहूँ तो प्रभुता समझी जायगी, "आप जैसा चाहें वैसा करें" इससे रूखापन झलकता है, "आपके बिना मैं नहीं जी सकती" यह बात कदाचित् संभव हो या न हो, तो हे नाथ ! मुझे बताइये कि आपके प्रस्थान करते समय मैं क्या कहूँ ? भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अमरु कवि के इस श्लोक का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार किया है—

रोकहिं जो तो अमंगल होय,
औ प्रेम नसै जो कहौं 'प्रिय जाइये'।
जो कहौं 'जाहु न' तो प्रभुता,
जो कछु न कहौं तो सनेह नसाइये।
जो कहौं 'जीहौं न आप बिना',
तो कहो हरिचन्द्रजू क्यों पतिआइये।
तासों प्रयान समय तुमरे,
हम का कहें आपै हमें समुझाइये॥

१२२

दूरादुत्सुकमागते विवलितं संभाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किंचिन्नतभ्रूलतम्।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पांबुपूर्णेक्षणं
चक्षुर्जातमहो प्रपंचचतुरं जातागसि प्रेयसि॥

भावार्थ :—अमरु कवि ने इस श्लोक में किसी मानिनी

नायिका के नेत्रो का अच्छा वर्णन है—मानिनी के नेत्र, जो भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रपच करने मे चतुर हैं, अपराधी प्रियतम जब तक न आया था तब तक उत्सुकता से पूर्ण थे, जब प्रियतम आ गया तब कुछ सकोच से भर गये, प्रियतम के बोलने पर विस्तारित हो गये, प्रियतम के आलिगन करने पर लाल हो गये, प्रियतम के द्वारा वस्त्र पकडने पर क्रोध से उनकी भौए कुछ टेढी हो गयी और प्रियतम जब उसको मनाने के लिये उसके चरणो पर पड गया, तो आसू से भर गये। इस प्रकार उस मानिनी के नेत्रो ने कितनी अवस्थाए बदली, यह आश्चर्य है! बिहारी का एक दोहा भी कुछ इसी भाव का है—

हरि-छवि-जल जब ते परे, तब ते छग निवरै न।
भरत ढरत बूडत तरत, रहत घरीलौ नैन॥

१२३

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासित व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते॥

भावार्थ —पति ने परदेश जाने का निश्चय कर लिया है, इस समाचार मात्र के सुनते ही पत्नी की जो दशा हुई, वह इस श्लोक मे वर्णित है—यह सुनते ही कि प्राणनाथ ने जाने का निश्चय कर लिया है वह इतनी दुर्बल हो गयी कि कडे हाथो से चल पडे, आसू आखो से बराबर बहने लगे, धैर्य एक क्षण के लिये भी न ठहरा और चित्त तो सबके आगे जाने को

दिशायें मेरे लिये बिलकुल शून्य न हो जायगी।" पति—"घबड़ाने की कोई बात नहीं है, मैं बहुत जल्द लौट आऊगा।" पत्नी—"यदि आप लौटेंगे तो अपने मित्रों और परिवार के लोगो के भाग्य से लौटेंगे।" पति—"जो तुम कहना चाहती हो कहो ! बोलो क्या कहना चाहती हो ?" पत्नी—"जब किसी तीर्थ में जाना तो मेरे लिये तिलाजलि दे देना, बस मैं यही चाहती हू।" तुम्हारे जाने के बाद तुम्हारे वियोग मे मैं जीवित न रहूगी, इस बात को कवि ने कैसी खूबी के साथ कहा है।

१२५

प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
किमुत सकले जाते वाह्नि प्रिय त्वमिहेष्यसि ।
इति विनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापै सवाष्पगलज्जलैः ॥

भावार्थ —एक भोली भाली स्त्री है, जो एक क्षण के लिए भी अपने प्रियतम का वियोग सहन नही कर सकती। उसका पति बहुत दूर की यात्रा करने की तैयारी मे है। उसे वह अपने भोले भाले उत्सुकता-भरे वचनो से इस प्रकार जाने से रोकना चाहती है—प्रियतम, बताओ तुम कब यहाँ लौटोगे ? एक पहर मे या दोपहर मे या तीसरे पहर मे या पूरा दिन बिताकर ही यहाँ आओगे ?" ऐसे वचनो से वह भोली-भाली स्त्री, जो सैकडो दिनो मे पहुँचने योग्य स्थान है वहाँ जाने से, पति को अपनी आँखो से आँसू बहाकर रोक देती है। यह श्लोक अमरु कवि का है,

इसी का अनुवाद पद्माकर ने हिन्दी मे, नीचेलिखे पद्य मे, बहुत सुन्दर किया है—

सो दिन को मारग तहाँ को वेगि माँगि विदा,
प्यारो पदमाकर प्रभात राति बीते पर।
सो सुनि पियारी पिय गमन बराइवे को,
आँसुनि अन्हाई बैठि आसन मुनीते पर।
बालम बिदेसै तुम जात हो तो जाउ,
पर साँचो कहि जाउ कब ऐहौ भौन रीते पर।
पहर के भीतर क दोपहर के भीतर ही,
तीसरे पहर कैधो साँझ ही बितीते पर॥

१२६

स्मर्तव्या वयमिन्दुसुन्दरमुखि प्रस्तावतोऽपि त्वया
सत्यं नाथ यदि प्रदास्यति विधिर्जातिस्मरत्वं मम।
एकस्मिन्नपि जन्मनि प्रियतमे जातिस्मरत्वं कथं
प्राणाः पान्थ समं त्वयैव चलिता क्वापि जन्मैतता॥

भावार्थ.—विदेश जाते हुए पति और उसकी पत्नी मे जो बातचीत हुई वही इस श्लोक मे कवि ने प्रगट किया है। पति—"चन्द्रमुखि! मुझे भी कभी-कभी स्मरण कर लेना।" पत्नी—"नाथ! अवश्य स्मरण करूँगी, यदि जन्मान्तर की बात मुझे याद रहेगी तो।" पति—"प्रियतमे! यह तुम क्या कहती हो? एक ही जन्म मे जन्मान्तर की बात कैसी?" पत्नी—"हे पथिक! प्राण तो तुम्हारे साथ ही जा रहे हैं, फिर वही जन्म और वही

शरीर कैसा ?" तुम्हारे जाने के बाद फिर मेरे प्राण नही रहेगे, इस बात को कवि ने कैसे अनोखे ढग से कहा है।

१२७

वाच्यं तस्मै सहचरि भवद्भूरिविश्लेषवन्हौ
स्नेहैरिद्धे मम वपुरिदं काम होता जुहोति ।
प्राणानस्मै तदहमुचितां दक्षिणां दातुमीहे
तत्रादेशो भवतु भवतां यत्त्वमेवासधीशः ॥

भावार्थः—एक विरहिणी कुलकामिनी अपनी एक सखी के द्वारा पति को यह सन्देसा भेजती है—हे सखि, उनसे जाकर कहना कि कामदेव रूपी होता (यज्ञ करने वाला पुरोहित) मेरे शरीर को स्नेहरूपी घृत से प्रज्वलित, वियोगरूपी अग्नि मे, हवन कर रहा है। अब उस पुरोहित को मैं प्राणरूपी दक्षिणा देना चाहती हूँ। किन्तु उसमे आपकी आज्ञा की आवश्यकता है, क्योकि उन प्राणो के मालिक तो आप ही है। यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इन प्राणो को त्यागकर विरह-तप्त जीवन से छुटकारा पा जाऊँ।

१२८

वाचो मांगलिकोः प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पे जने,
केलीमन्दिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजा ।
निःश्वासग्लपिताधरा परिपतद्बाष्पार्द्रवक्षोरुहा
बाला लोलविलोचना शिव शिव प्राणेशमालोकते ॥

कोमल करो से हटाती है, पर वार-वार तुम रति की साक्षात् मूर्ति उसके अधर का पान कर रहे हो। इस प्रकार तुम तो अपने मनोरथ मे सफल और कृतकृत्य हो रहे हो और हम इसके प्रति अनुराग उचित है या अनुचित, इस तत्त्व के अन्वेषण मे लगे हुए अपने मनोरथ में असफल होकर, कही के न रहे।

१३०

गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव।
प्रणामान्तः कोपस्तदपि न जहासि क्रुधमहो
स्तनप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम्॥

भावार्थ :—इस श्लोक के सम्बन्ध मे मयूर कवि और बाण-भट्ट का एक कथानक प्रचलित है—ऐसा कहा जाता है कि बाण मयूर कवि के बहनोई और परम मित्र थे। किसी दिन मयूर कवि रात के पिछले पहर जागे और उसके बाद कई श्लोक उन्होने रच डाले। उन्हें बहुत रसीले समझ, मारे उत्सुकता के, अपने मित्र बाण कवि को सुनाने के लिए उनके दरवाजे पर पहुचे। बाण कवि ठीक उसी समय अपनी पत्नी, मयूर कवि की बहिन को, जो मान से रूठी हुई थी, प्रसन्न करने के लिए यह श्लोक रचकर सुना रहे थे। तीन चरण सुनाकर जब तक वे चतुर्थ चरण के शब्द सोच रहे थे, तब तक मयूर कवि वहां जा पहुचे और स्वयं चतुर्थ चरण की पूर्ति करते हुए बोले—"स्तनप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम्"। यह सुनते ही बाण कवि प्रसन्नता से भरे हुए बाहर निकल आये और

मयूर से भेंट की। बाण की स्त्री ने अपनी क्रीडा में ऐसा रंग-भंग देख, भाई को शाप दिया कि वह कोढ़ी हो जाये। मयूर कोढ़ी हो गए और सूर्य शतक बनाने पर उस रोग से मुक्त हुए। सूर्य शतक रचकर मयूर ने अपना कुष्ट दूर किया ऐसा काव्य-प्रकाश में भी मिलता है। श्लोक का भावार्थ यह है—

रात अब बीत-सी गयी है, चन्द्रमा भी अब क्षीण और प्रभाहीन होकर डूबने हो वाला है; यह दीपक भी जो रात भर मेरे साथ जगा है, अब नींद में आकर औंघाई ले रहा है, प्रणाम कर लेने पर क्रोध का अन्त हो जाना चाहिये, पर मेरे प्रणाम करने पर भी अपना कोप नहीं दूर कर रही हो; हे कठोर हृदये! मालूम होता है, कठोर स्तनों के पास रहते रहते तुम्हारा हृदय भी कठोर हो गया है। तभी तो मेरे अनुनय का कोई असर उस पर नहीं हो रहा है।

१३१

क्व प्रस्थितासि करभोरु घने निशीथे
प्राणाधिपो वसति यत्र जनः प्रियो मे।
एकाकिनी वद कथं न बिभेषि बाले
नन्वस्ति पुंखितशरो मदनः सहायः॥

अकेली कहा हू, धनुषवाण लिये हुए कामदेव जो मेरे साथ जा रहा है, फिर डर कैसा ? इसी भाव को लेकर पद्माकर कवि का हिन्दी अनुवाद है—

कौन है तू कित जात चली बलि बीती निशा अधराति प्रमानै।
ह्वौ पदमाकर भावति ह्वौ निज भावत पैं अबहो मुहि जानै।
तौ अलबेली अकेली डरैं किन क्यों डरौ मेरी सहाय के लानैं।
है सखि सग मनोभवसो भट कानलो वान सरासन तानैं॥

१३२

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा।
इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः॥

भावार्थ :—एक विरहिणी अपने प्रियतम के वियोग मे कहती है—मेरे और प्रियतम के बीच रेखामात्र का भी अन्तर और अलगाव न हो, इसके लिये मै पहले अपने कण्ठ मे हार भी नही डालती थी, और अब यह दशा है कि हम दोनो के बीच हार तो क्या, बडे-बडे पर्वत, बडी-बडी नदिया और बडे-बडे वृक्ष आ गये हैं। इसी भाव का रहीम का यह दोहा भी है—

रहिमन इक दिन वे रहे, बीच न सोहत हार।
वायु जो ऐसी बह गयी, बीचन परे पहार॥

१३३

प्रियाविरहितस्यास्य हृदि चिन्ता समागता।
इति मत्वा गता निद्रा के कृतघ्नमुपासते॥

भावार्थ :—किसी विरही पुरुष का वर्णन करते हुए कवि

कहता है—अपनी प्रियतमा के विरह मे व्याकुल उसके हृदय मे चिन्ता समा गयी है, यह जानकर निद्रा जो उसकी चिर-सहचरी थी, उसे छोडकर चली गयी। सच है कृतघ्न का कौन साथ देता है। हृदय मे जब चिन्ता घर कर लेती है तो नीद कहा आती है ? इसी भाव का यह हिन्दी दोहा भी है :—

नीन्द पुरानी गेहिनी, रात न आयो हाय।
चिन्ता नव वधु देख के, झाकि झाकि चलि जाय॥

१३४

यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः।
अपि विद्युत्प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि॥

भावार्थ :—वर्षा काल मे एक विरहिणी नायिका चमकती हुई बिजली को सबोधन करके कहती है—यदि बादल गर्जते हैं तो गर्जें, क्योकि पुरुष तो निठुर होते ही हैं। परन्तु बिजली, तू तो स्त्री जाति है, क्या तू भी स्त्री जाति के दुःख को नही समझती ? तो फिर क्यो मुझ विरहिणी को चमक कर सता रही है ?

१३५

स्मर्तव्याऽहं त्वया काले न स्मरिष्याम्यहं तव।
स्मरणं चेतसो धर्मं तच्चेतो भवता हृतम्॥

भावार्थ :—कोई स्त्री परदेश जाते हुए अपने पति से कहती है—कभी-कभी, आपको समय मिले तो मेरी भी याद कर लेना। किन्तु मैं तो आपको स्मरण करूँगी नही, क्योकि

-स्मरण करना तो चित्त का धर्म है, उस चित्त को आप चुरा कर लिए जा रहे है। अतएव मैं आपको कैसे स्मरण करूँगी ? कुछ इसी भाव को लिये हुए एक उर्दू शेर भी है—

मैं जाता हूँ दिलको, तेरे पास छोड़े।
मेरी याद तुझको, दिलाता रहेगा ॥

उर्दू के एक दूसरे कवि ने कहा है—

याद रखना हमारा भूल गये।
भूल जाना हमारा याद रहा ॥

एक और शेर है—

कोई तो अपने शरीके हाल मुश्किल में रहे।
तुम नही रहते तुम्हारी याद ही दिल में रहे ॥

१३६

यावद् यावद् भवति कलया पूर्णकामः शशांक-
स्तावत्तावद् द्युतिमयवपुः क्षीयते सा मृगाक्षी ।
मन्ये धाता घटयति विधुं सारमादाय तस्या-
स्तस्माद्यावन्न भवति सखे पूर्णिमा तावदेहि ॥

भावार्थः—इस श्लोक में कोई अपने मित्र को उसकी विरह-विधुरा प्रियतमा का हाल लिखकर सूचित करता है—जैसे-जैसे चन्द्रमा एक-एक कला बढता जाता है वैसे-वैसे उस मृगनयनी—आपकी प्रियतमा—का सुन्दर शरीर क्षीण होता जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो विधाता उसके शरीर का सारा सार खीचकर चन्द्रमा को गढ़ रहा है। इसलिए मित्र ! जब तक पूर्णिमा न हो, तब तक मैं चले आओ। नही तो हाथ मल-मल कर पछताना पड़ेगा, क्योंकि फिर पूर्णिमा के बाद उसका अस्तित्व कहाँ ?

१३७

अनुदिनमतितीव्रं रोदिषीति त्वमुच्चै-
सखि किल कुरुषे त्वं वाच्यतां मे मुधैव ।
हृदयमिदमनंगांगारसंगाद्विलीय
प्रसरति बहिरंभः सुस्थिते नैतदश्रु ॥

भावार्थ.—सखी के बार-बार समझाने पर कि तू क्यों रोया करती है, एक विरह-विधुरा स्त्री उत्तर देती है—"तू प्रतिदिन बहुत रोती रहती है" ऐसा कहकर हे सखी ! तुम मुझे क्यों बदनाम किया करती हो। कामाग्नि (विरहाग्नि) से पिघल-पिघल कर यह मेरा हृदय पानी होकर आँखों से बह रहा है। हे विरह-पीडा से अनभिज्ञ, स्वस्थचित्तवाली सखि ! यह आँसू नहीं है । इसी भाव का बिहारी का दोहा भी है—

लग्यो आव अति विरह को रह्यो प्रेम रस भीज ।
नैनान के मग जल बहै हियो पसीज पसीज ॥

१३८

श्लिष्यति पश्यति चुम्बति पुनः पुनः पुलकमुकुलितैरंगैः।
प्रियसंगाय स्फुरितां वियोगिनी वामबाहुलताम् ॥

भावार्थ —किसी विरहिणी का बाया हाथ फरकता है। इस शुभ शकुन से यह समझकर कि प्रियतम आने ही वाला है, वह उत्सुकता और प्रेम के उद्रेक में, कभी अपनी बायी भुजा का आलिंगन करती है, कभी उसको देखती है, और कभी उसका चुम्बन करती है।

१३९

स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम् ।
सम्मील्य दक्षिणं त्वयैवैतं प्रेक्षिष्ये ॥

भावार्थः—एक विरहिणी नायिका अपनी बाईं आंख को सम्बोधन करके कहती है—हे बाईं आंख, तुम्हारे फरकने से यदि वह मेरा प्रियतम आज आवेगा, तो मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि अपनी दाईं आंख को देर तक बन्द रख कर, तुम्ही से उस को देखूंगी । इसी भाव को लेकर विहारी का यह दोहा है—

वाम बाहु फरकत मिले, जो हरि जीवनमूरि ।
तो तोही सो भेटि हौं, राखि दाहिनी दूरि ॥

१४०

आगच्छन्सूचितो येन
येनातीतो गृहं प्रति ।
प्रथमः सखि कः पूज्यः
किं काकः किं क्रमेलकः ।

भावार्थः—चिरकाल के विरह के बाद किसी प्रियतमा का पति ऊँट पर चढ़कर परदेश से आया है। इस पर उसकी सखियाँ जब उसे बधाई देने के लिए आयी, तो उसने उनसे एक समस्या का समाधान पूछा। उसने कहा—"सखियो ! आज प्रात काल ही कौवे ने मुझे प्रिय के आगमन का सन्देश दिया और ऊँट स्वय उन्हें अपनी पीठ पर बिठाकर घर तक लाया है । अब

तुम मुझे यह बताओ कि मैं इन दोनो मे से पहले किस का सम्मान करूँ, कौए का या ऊँट का ?

१४१

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता ।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ॥

भावार्थ —एक विरहिणी किसी दूती के द्वारा अपने प्रियतम से कहती है—जब तुमको नही देखती, तब देखने की उत्कण्ठा बनी रहती है और जब तुमको देखती हू तो यह भय बना रहता है कि फिर तुमसे वियोग न हो जाय। इस प्रकार चाहे तुम्हे देखू या न देखू, तुमसे सुख मुझे कदा नही है। इसी भाव को लिये हुए यह हिन्दी का दोहा भी है—

देखे बनै न देखते, बिन देखे अकुलाहि
इन दुखियन अखियान को, सुख सिरजौहै नाहि ॥

एक उर्दू कवि का शेर भी कुछ इसी तरह का है—

हिज्र मे वस्ल का गम, वस्ल मे मिलने की उमीद।
कौन कहता है कि, हिज्र से विसाल अच्छा है ॥

१४२

पंचत्वं यान्तु बाणाः समयपरिणतस्ते विदीर्णोऽस्तु चापः
क्रूरः क्रूराहियन्त्रं विशतु तव रथो मा भव त्वं शरीरी ।
किं ते शापेन मादृग्युवतिवधमहापातकिन्मीनकेतो
शप्यः पापीजयोनिः स खलु रचितवान् पापिनो दीर्घमायुः ॥

भावार्थः—एक विरहिणी विरह के प्रलाप में कामदेव को शाप देती हुई कहती है—तेरे कुसुम के बाण नाश को प्राप्त हों; तेरा धनुष जो बहुत काल से जीर्ण हो गया है, टुकड़े-टुकड़े हो जाय; तेरा रथ क्रूर सर्प के मुख मे चला जाय और तू कभी शरीर को धारण न करे। परन्तु मेरे सदृश अनेक युवतियों के वध से पाप की गठरी ढोने वाले ऐ कामदेव ! तुझे शाप देने से क्या लाभ ? सबसे बड़ा पापी तो कमल से उत्पन्न होने वाला ब्रह्मा है, जिसने तुझ-जैसे पापी की इतनी लम्बी आयु बनायी है।

१४३

जटा नेयं वेणीकृतकचकलापो न गरलं
गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न कुसुमम् ।
इयं भूतिर्नांगे प्रियविरहजन्मा धवलिमा
पुरारातिभ्रान्त्या कुसुमशर किं मां व्यथयसि ।।

भावार्थः—एक विरहिणी प्रियतम के वियोग मे प्रलाप करती हुई कहती है—हे कामदेव ! तुम मुझे अपना पुराना शत्रु, पुराराति महादेव, समझ कर सता रहे हो यह उचित नहीं है। मेरे सिर पर वेणी किया हुआ जो यह केशों का जूडा बन्धा हुआ है वह महादेव की जटा नहीं है, गले में जो यह कस्तूरी का लेप है वह महादेव जी का हालाहल पीने से नीला हो गया कण्ठ नहीं है; केशों मे जो यह सफेद फूलो की कतार खुसी हुई है वह महादेव जी की जटा में स्थित अर्द्धचन्द्र नहीं

है, मेरे शरीर मे प्रियतम के वियोग मे, जो यह सफेदी छा गयी है, वह महादेव जी के शरीर पर पुता हुआ भस्म नही है। फिर व्यर्थ मे मुझे क्यो महादेव के भ्रम मे सता रहे हो ?

१४४

हृदयमाश्रयसे वत मामकं
ज्वलयसीत्यमनंग तदेव किम्।
स्वयमपि क्षणदग्धनिजेन्धनः
क्व भवितासि हताश हुताशवत् ॥

भावार्थ—एक विरहिणी प्रलाप मे कामदेव को सम्बोधन करके कहती है—हे कामदेव, तुम मेरे हृदय मे रहते हो और उसी अपने घर को जला रहे हो। जिस प्रकार आग ईन्धन को जलाकर फिर स्वयं समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार तुम भी अपने घर—मेरे हृदय—को जलाकर फिर कहाँ रहोगे ? जरा सोचो तो सही ! फिर क्यों जला रहे हो ?

१४५

अनलस्तंभनविद्यां सुभग भवान्नियतमेव जानाति।
मन्मथशराग्नितप्ते हृदये मे कथमन्यथा वससि ॥

भावार्थ.—कोई विरहिणी विरह के प्रलाप मे अपने प्रियतम को सबोधन करके कहती है—हे प्रियतम, निश्चय है कि तुम आग को वश मे करने की विद्या जानते हो। अन्यथा कामदेव के बाणों की अग्नि से जलते हुए इस मेरे हृदय में

तुम कैसे निवास करते ? निश्चय ही तुमने आग को वश मे कर लिया है।

१४६

नपुंसकमिति ज्ञात्वा प्रियायै प्रेषितं मनः।
तच्च तत्रैव रमते हृताः पाणिनिना वयम् ।।

भावार्थः—सस्कृत भाषा मे "मन" शब्द नपुंसक लिंग है, इस पर किसी कवि की सूझ है—मैंने यह समझ कर कि "मन" नपुंसक है उसे अपनी प्रिया के पास दूत बनाकर भेजा। किन्तु वह तो वही रम गया, आने का मन ही नही करता। सचमुच पाणिनि ने बडा धोखा दिया। न पाणिनि उसे नपुंसक लिंग लिखते, न मैं उसे वहाँ भेजता। इस श्लोक का हिन्दी मे पद्यानुवाद किसी ने इस प्रकार किया है—

मन चचल और नपुंसक है, इस भाँति विचार बसीठ बनाया।
वह पास गया जिसके उसने, रस खेल खिलाय वही बिरमाया।।
निशि बीत चुकी पर भामिनि को, अब लो कवि शकर साथ न लाया।
पढ़ि पाठ महामुनि पाणिनि के, हमने फल हाय! भयानक पाया।।

१४७

दृष्टिर्वन्दनमालिका स्तनयुगं लावण्यपूर्णौ घटौ,
शुभ्राणां प्रकरः स्मितं सुमनसां वक्त्रप्रभा दर्पणः।
रोमांचोद्गम एव सर्षपकणः पाणी पुनः पल्लवौ,
स्वांगैरेव गृहं प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मंगलम् ।।

भावार्थः—पति के परदेश से आने पर पत्नी हर्ष से कितनी प्रफुल्लित हो गयी, इसका सुन्दर वर्णन अमरु कवि ने इस श्लोक मे इस प्रकार किया है—जब प्रियतम घर मे प्रवेश करने लगा, तो द्वार पर ही उसको प्रियतमा ने अपने अगो से ही यथोचित मगलाचार पूरा किया। उसके एकटक देखने ने वन्दनवार का, दोनो पयोधरो ने लावण्यरूपी जल से भरे हुए दो घडो का, मीठी मुस्कान ने सफेद फूलो की वर्षा का, मुख की कान्ति ने दर्पण का, रोमाच ने सर्सो के दानो का तथा करो ने पल्लवो का काम दिया। इसी भाव का एक हिन्दी पद्य भी है, देखिये—

इन्दीवरान को वजि सुलोचनि दीठिसो वन्दनवार बनाई,
कुन्द चमेलिन मेलि कछू मुस्क्यान सो दीन प्रसून बिछाई।
स्वेद चुचात पयोधरसो दियो अर्घ न अम्भ सुकुंभ मे लाई,
आवत पीयके अगनिसो निज मगलरीति सबै निवटाई॥

१४८

सत्यमेव गदितं त्वया प्रभो
जीव एक इति यत्पुरावयोः।
अन्यदारनिहिताः नखव्रणा-
स्तावके वपुषि पीड़यन्ति माम्॥

भावार्थ.—एक लपट पति अपनी पत्नी से प्रतिदिन कहा करता था कि "हम दोनो तो एक मन, दो तन हैं।" एक दिन जब वह किसी अन्य स्त्री के यहाँ से लौटकर आया, तो उसके अगो मे रति-चिन्हो को देखकर पत्नी ताने के साथ कहती है—स्वामिन्! आप पहले जो कहा करते थे कि कि "हम दोनो

के प्राण एक है" सो आज सच्चा साबित हुआ। यदि हम दोनो के प्राण एक न होते तो आप के शरीर मे अन्य स्त्री के द्वारा दिये गए नखक्षत मुझे क्यो पीडा देते ? नखक्षत आप के अग मे है, परन्तु पीडा मुझे दे रहे हैं। अतएव सिद्ध हुआ कि हम दोनो के शरीर अलग अलग है, पर प्राण एक हैं।

१४९

दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां
पादप्रहार इति सुन्दरि नास्मि दूये।
उद्यत्कठोरपुलकांकुरकण्टकाग्रै-
र्यद्भिद्यते मृदु पदं ननु सा व्यथा मे॥

भावार्थः—किसी प्रगल्भा नायिका का वर्णन इस श्लोक मे है। स्त्री के पाद-प्रहार करने पर पति कहता है—मैं तुम्हारा दास और अपराधी हूँ और तुम मेरी प्रभु हो। प्रभुओ का अपराधी सेवक को लात मारना उचित ही है। किन्तु हे सुन्दरि! तुम्हारे पाद-प्रहार से मुझे दु ख इस बात का है कि तुम्हारे सुकुमार पैर मेरे शरीर मे उठे हुए कठोर पुलकावली रूपी काँटो से बिंध गए होगे, जिससे तुमको बहुत पीडा हुई होगी। मैं अपने इस अपराध की क्षमा चाहता हूँ।

अंग—सौन्दर्य

१५०

तस्या मुखस्यातिमनोहरस्य
कर्त्तुं न शक्तः सदृशं प्रियायाः ।
अद्यापि शीतद्युतिरात्मबिम्बं
निर्माय निर्माय पुनर्भिनत्ति ।।

भावार्थः—चन्द्रमा पूर्णमासी की तिथि में बार-बार पूरा होकर, बार-बार क्षीण होता रहता है। इस पर एक सुन्दरी के मुख की प्रशंसा में कवि की कल्पना है—उस प्रियतमा के मुख की तुलना करने में चन्द्रमा अभी तक असफल रहा है, पर चेष्टा करना नहीं छोड़ता। इसीलिए बार-बार वह अपने को बनाता रहता है और बार-बार मिटाता रहता है कि कदाचित् कभी तो सफल हो जाऊँ और उस सुन्दरी के मुख की बराबरी कर सकूँ।

१५१

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा ।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगंभीरखनीखनीलिम ।।

भावार्थ :—नैषधचरित में महाकवि श्रीहर्ष दमयन्ती के मुख का वर्णन करते हुए, लिखते हैं—ब्रह्मा ने दमयन्ती का मुख रचने के लिए चन्द्रमा का सार खींच लिया। सार खींचने से

उसके बीच आर-पार एक छेद हो गया। उसी छेद के कारण चन्द्रमा के उस पार का नीला आकाश दिखाई पडने लगा। उस पार दिखाई पडने वाला नीला आकाश ही वह कलक है, जो चन्द्रमा मे दिखाई पड रहा है।

१५२

द्विधा विधाय शीतांशुं कपोलौ कृतवान् विधिः।
तन्व्यास्तद्रसनिष्यन्दबिन्दवो रदनावली॥

भावार्थः—किसी सुन्दरी के कपोलो और दाँतो की प्रशसा मे कवि कहता है—ब्रह्मा ने चन्द्रमा को दो भागो मे काट कर उसके कपोलो का निर्माण किया तथा चन्द्रमा की दो फाँक करने से जो रस की बूँदे टपकी, वही दाँतो की दो पक्तियाँ बन गयी।

१५३

विलोकितास्या मुखमुन्नमय्य किं वेधसेयं सुषमासमाप्तौ।
धृत्युद्भवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागंगुलियंत्रणेव॥

भावार्थः—दमयन्ती के चिबुक (ठुड्डी) के वर्णन मे महाकवि श्रीहर्ष की कल्पना है कि ब्रह्मा जब उसकी सुन्दरता गढ चुका, तब उसका मुख उठाकर आत्मसन्तोष के लिए देखा कि कैसी बनी है। अगुली से ठुड्डी को उठाया, इसलिए ठुड्डी मे हलका-सा गड्ढा (dimple) पड गया, जो मुख को और भी सुन्दर बना रहा है।

१५४

आकाशात्पतितं पुनर्जलनिधौ मध्ये चिरं संस्थितं
पश्चाद् :सहदेहरन्ध्रजनितक्लेशान्वितं मौक्तिकम् ।
बाले बालकुरंगलोचनयुगे घोरं तपः संचरत्
नासा भूषणतामुपैति सखि ते बिम्बाधरापेक्षया ॥

भावार्थः—एक सखी किसी नायिका की नासिका और अधर की प्रशंसा में कहती है—हे मृग-छौने के समान नेत्र वाली सुन्दरि ! इस मोती ने बड़ी तपस्या की है, तब कहीं जाकर तुम्हारी नासिका तक पहुँच सका है। पहले वह आकाश से स्वाती नक्षत्र के बून्द के रूप में गिरा, फिर बहुत दिनों तक समुद्र के गर्भ में पड़ा रहा, वहाँ से फिर मोती के रूप में निकला और बाद को उसका शरीर छेदा गया। यह सब असहनीय कष्ट उसने इस लिए सहे हैं, कि अन्त में तुम्हारी नासिका का आभूषण बनकर, तुम्हारे बिम्ब के समान अधर का पान कर सके।

१५५

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात्
मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्या-
स्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥

भावार्थः—कालिदास कुमार सम्भव में पार्वती के अधरों पर

मुस्कान का वर्णन करते हुए लिखते हैं—यदि श्वेत खिले हुए पुष्प को लाल [redacted] पर रख दिया जाय अथवा स्वच्छ मोती को पूर्ण विकसित मूंगे पर रख दिया जाय, तभी वह पार्वती के लाल ओंठ पर फैली हुई मुस्कान की शोभा का अनुकरण कर सकता है।

१५६

इन्दीवरं लोचनयोस्तुलार्थं
निर्माय यत्नेन विधिः कदाचित्।
अतुल्यतां वीक्ष्य ततो रजांसि
निक्षिप्य चिक्षेप स पंकमध्ये ॥

भावार्थः—ब्रह्मा ने सुन्दरी के नेत्रों की तुलना करने के लिए बड़े यत्न से कमल को बनाया, पर जब देखा कि वह उसकी तुलना नहीं कर सकता, तो खिन्न होकर उसे तिरस्कृत कर दिया और उस पर पराग के रूप मे धूल फेंक कर, कीचड़ में फंक दिया। इसलिए कमल कीचड मे होने लगा और पंकज कहलाने लगा।

१५७

कस्तूरीतिलकं भाले बाले मा कुरु मा कुरु।
अद्य साम्यं भजामीति जृंभते शशलांछनः ॥

भावार्थः—कोई सुन्दरी अपने माथे पर कस्तूरी का तिलक लगा रही है। इस पर कवि उसको सम्बोधन करके कहता है—

"हे बाले, अपने माथे पर कस्तूरी का तिलक मत लगाओ! मत लगाओ! क्योंकि अभी तक तो चन्द्रमा सकलंक था और तुम्हारा मुख सर्वथा निष्कलंक था, पर अब कस्तूरी का काला तिलक लग जाने से, वह भी सकलंक हो गया। अतएव चन्द्रमा यह समझ कर कि अब मैं इसके बराबर हो गया, हर्ष के मारे फूला नहीं समाता।

१५८

वर्द्धते मुखसादृश्यमवाप्तुं हरिणीदृशः।
क्षीयते भ्रूतुलायेतुमुभयोरक्षमो विधिः॥

भावार्थः—चन्द्रमा बढ़ता और घटता रहता है, इस पर किसी कवि की अनोखी कल्पना है कि इस मृगनयनी के मुख की बराबरी पाने के लिए चन्द्रमा बढ़ता है। पर जब देखता है कि मैं उसके मुख की समता नहीं पा सकता, तो घटने लगता है कि कदाचित् उसके भौं की बराबरी पा जाऊं, किन्तु वह इसमें भी असफल होता है। इसी भाव का एक फारसी का शेर भी है—

मह शुद तमाम ताबे रुखे ऊबरद् न शुद।
काहीद बाज़ ताखमे अबरू न बर्द् न शुद॥

१५९

प्रविश झटिति गेहं मा बहिस्तिष्ठ कान्ते
ग्रहणसमयवेला वर्तते शीतरश्मेः।
तव मुखमकलंकं वीक्ष्य नूनं स राहु-
र्ग्रसति तव मुखेन्दुं पूर्णचन्द्रं विहाय॥

भावार्थः—चन्द्रमा को ग्रहण लगने वाला है, उस पर एक कवि किसी सुन्दरी से कहता है—हे सुन्दरी, चन्द्रमा का ग्रहण अब लगने ही वाला है। इसलिए झट से घर के भीतर चली जाओ, बाहर मत खड़ी रहो। मुझे डर लगता है कि तुम्हारे निष्कलंक मुख को देख, राहु सकलंक पूर्णिमा के चान्द को छोड़कर, कहीं तुम्हारे कलंक-रहित मुख-चन्द्र को न ग्रस ले। कुछ इसी तरह की अतिशयोक्ति एक उर्दू शेर में भी है—

वाम पर नंगे न जाओ, तुम शबे महताब में।
चान्दनी पड़ जाएगी, मैला बदन हो जाएगा॥

१६०

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥

भावार्थः—कालिदास शकुन्तला की सुन्दरता के वर्णन में कहते हैं—इसका सर्वांगसुन्दर रूप एक ऐसा पुष्प है जिसको अभी तक किसी ने सूँघा नहीं है; एक ऐसा कोमल किसलय (कोंपल) है जो किसी के नख से अभी तक तोड़ा नहीं गया है; एक ऐसा नवीन मधु है जिसको अभी तक किसी ने चखा तक नहीं है; ऐसे पुण्य का फल है जो अखण्ड है और जिसकी कोई सीमा नहीं है—मालूम नहीं ब्रह्मा किसको इसका भोग करने वाला चुनेगा।

१६१

नतांगि त्वद्वक्त्रश्रियमसहमानः कृशतनु-
र्जटारण्ये स्थित्वा गलदमलगंगे गुहगुरोः ।
त्रियामाप्राणेशः शृणु निजकलंकं शमयितुं
समुद्यत्संकल्पः परिचरति मन्ये तप इति ॥

भावार्थ.—महादेव जी की जटा मे द्वितीया का चान्द क्यो है, इस पर किसी कवि को अनोखी कल्पना है। कोई कवि किसी स्त्री को सम्बोधन करके कहता है—हे सुन्दरी, चन्द्रमा, तुम्हारे मुख की शोभा को न सहकर तथा दु ख के मारे दुबला होकर, महादेव जी की जटा रूपी बन मे, वहाँ से निकलती हुई पवित्र गगा के किनारे, तुम्हारे मुख की समता पाने की लालसा से, अपने कलक को दूर करने का सकल्प लेकर, मानो कठोर तपस्या कर रहा है।

१६२

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

भावार्थः—शकुन्तला के रूप की प्रशंसा मे कालिदास कहते हैं—कमल यद्यपि शैवाल (सेवार) से लिपटा रहता है तथापि उसी से उसकी शोभा और अधिक रमणीय हाती है, चन्द्रमा

यद्यपि मैले कलक से अकित रहता है तथापि उसी से उसकी रमणीयता बढ जाती है, इसी प्रकार यह कोमलागी शकुन्तला यद्यपि केवल वल्कल (पेड के छाल का बना हुआ वस्त्र) पहने हुए है तथापि उसी मे यह और भी मनोहर लग रही है। सच है जो मधुर आकृति वाले हैं, उन्हे कोई भी वस्तु शोभा देने वाली हो जाती है।

१६३

अभिलषसि यदीन्दो वक्त्रलक्ष्मीं मृगाक्ष्याः
पुनरपि सकृदब्धौ मज्ज संक्षालयांकम्।
सुविमलमथ बिम्बं पारिजातस्य गन्धैः
सुरभय वद नो चेत्त्वं क्व तस्या मुखं क्व॥

भावार्थः—कोई नायक अपनी प्रियतमा के मुख की प्रशसा मे चन्द्रमा को सबोधन करके कहता है—चन्द्रमा, यदि तू उस मृगनयिनी के मुख को शोभा प्राप्त करना चाहता है, तो एक बार फिर समुद्र मे डूब कर अपने कलक (काले धब्बे) को धो डाल। इस प्रकार अपने गोल बिम्ब को स्वच्छ करके वही पारिजात (कल्पवृक्ष) की सुगन्ध से अपने को सुगन्धित कर। तब वही तू इसकी बराबरी कर सके। नही तो कहाँ तू और कहाँ उसका मुख।

१६४

उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया-
मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः।

नीतः शान्ति प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा-
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः ॥

भावार्थः—किसी सुन्दरी के चन्द्रमा को भी लजाने वाले मुख तथा कमल के समान सुन्दर चरणों की प्रशंसा में कवि कहता है—"मेरा जन्मजात वैरी चन्द्रमा रात में मेरा विकास नहीं सह सकता, उसी चन्द्रमा के सौन्दर्य-दर्प को इस कमल-नयनी ने अपने मुख की कान्ति से चूर कर दिया है"—बस इसी प्रसन्नता के मारे, अपनी कृतज्ञता प्रगट करने के लिये, हे कोमलांगि! कमल की शोभा तुम्हारे पैरों में आकर पड़ गयी है।

यदि कोई स्वयं अपने वैरी को न जीत सके और दूसरा कोई उस वैरी को हरा दे, तो उसका प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है और तब वह हराने वाले के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करने के लिए, अपना सिर उसके चरणों पर रख देता है। इसी प्रकार कमल ने भी उस कामिनी के मुख से अपने शत्रु चन्द्रमा को पराजित देख कर, अपनी कृतज्ञता प्रगट करने के लिये, अपनी कान्ति उसके चरणों में समर्पित कर दी। उसका मुख चन्द्रमा से और उसके चरण कमल से भी अधिक सुन्दर हैं, इस बात को कवि ने कैसे अनोखे ढंग से कहा है।

१६५

अरण्यं सारंगैर्गिरिकुहरगर्भाश्च हरिभि-
र्दिशो दिङ्मातंगैः सलिलमुषितं पंकजवनैः।

प्रियाचक्षुर्मध्यस्तनवदनसौन्दर्यविजितैः
सतां माने म्लाने मरणमथवा दूरगमनम् ॥

भावार्थः—एक मनुष्य अपनी प्रियतमा के अंग-सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कहता है— मेरी प्रिया के नेत्रों के सौन्दर्य से पराजित होकर, मृगों ने वन में शरण ले ली है; कटि के सौन्दर्य से पराजित होकर, सिंहों ने पहाड़ की गहरी गुफाओं में निवास ले लिया है; चाल के सौन्दर्य से पराजित होकर, दिग्गज हाथी दिशाओं के छोर में चले गये हैं और मुख के सौन्दर्य से पराजित होकर, कमलों के समूह, डूब मरने के लिये, पानी में चले गये हैं। ठीक है, जब अच्छे लोगों का मान-मर्दन होता है, तो उनके लिये या तो मर जाना या दूर भाग जाना ही श्रेयस्कर है।'

१६६

श्यामं सितं च सुदृशो न दृशोः स्वरूपं
किन्तु स्फुटं गरलमेतदथामृतं च ।
नो चेत्कथं निपततादनयोस्तदैव
मोहं मुदं च नितरां दधते युवानः ॥

भावार्थः—आँखों की प्रशंसा में किसी कवि की यह कल्पना अनोखी है—मृगनयनी की आँखों में जो यह कालापन और सफेदी है, सो वास्तव में यह कालापन और सफेदी नहीं है, वरन विष और अमृत है। यदि ऐसा नहीं है तो फिर क्या बात है कि जिन युवाओं पर उसकी नजर पड़ जाती है, वे एक साथ ही मतवाले

भी हो जाते हैं और आनन्द मे विभोर हो उठते हैं। अर्थात् आंखो मे जो कालापन है वह जहर है, जिसके असर से युवक-गण मतवाले हो जाते है और आंखो मे जो सफेदी है वह अमृत है, जिसका असर पड़ते ही वे आनन्द-लहरी मे गोता लगाने लगते है। इसी भाव का हिन्दी का एक दोहा भी है। दोहा यह है—

अमी हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत एक बार॥

एक दूसरे कवि ने इस श्लोक का हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार किया है—

स्याम सेत यह रग नही प्यारी के चख को,
किन्तु गरल अरु सुधा अहै तिहि सकत न लखको।
ना तो मैसे परत जाहि के तन पर ता छन,
मोहत अति ही और मुदित मन होत युवागन॥

एक उर्दू कवि का एक शेर भी इसी भाव का है—

मजा बर्सात का चाहो तो आ बैठो इन आँखों मे।
सफ़ेदी है, सियाही हैं, शफ़क़ है, अब्रेबारा है॥

१६७

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजड़ः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥

भावार्थः—इस नायिका को रचते समय, अनुमान है कि ब्रह्मा या तो मनोहर कान्ति देने वाला चन्द्रमा हो गया था या शृंगाररस के एक-मात्र अधिष्ठाता कामदेव के रूप मे हो गया था या पुष्पो से लदे हुए वसन्तऋतु का मनमोहक चैत्रमास हो गया था। अन्यथा वेदाभ्यास करते-करते जो नितान्त जड (नीरस) हो गया है और विषयो से जिसका मन हट गया है, ऐसा बूढा नीरस ब्रह्मा, कहाँ से ऐसा सुन्दर मनोहर रूप गढ सकता था ?

१६८

अस्याश्चेद्गतिसौकुमार्यमधुना हंसस्य गर्वैरलं
संलापो यदि धार्यतां परभृतैर्वाचंयमत्वव्रतम् ।
अंगानामकठोरता यदि दृषत्प्रायेव सा मालती
कान्तिश्चेत्कमला किमत्र बहुना काषायमालम्बताम् ॥

भावार्थः—यदि यह सुन्दरी अपनी सुकुमार गति से गमन करे, तो उसे देखकर हंस अपनी चाल का गर्व सदा के लिए भूल जाय। यदि यह अपनी मधुर वाणी से सलाप करे, तो कोयल सदा के लिए मौनव्रत धारण कर ले। यदि इसके अगो की सुकुमारता को देखा जाय, तो इसकी तुलना मे मालती लता भी पत्थर के समान कठोर मालूम पडे। और यदि इसकी कान्ति को देखे तो लक्ष्मी भी लज्जा के मारे, सन्यास ग्रहण कर, भिक्षुणी बन जाय।

१६९

एष्यन्ति यावद्गणनाद्दिगन्तान्नृपाः
स्मरार्ताः शरणे प्रवेष्टुम् ।
इमे पदाब्जे विधिनापि सृष्टा-
स्तावन्त्य एवांगुलयोऽत्र रेखाः ॥

भावार्थः—दोनो पैरो मे सब मिलाकर दस अगुलियां क्यो हैं, इस पर दमयन्ती के वर्णन मे महाकवि श्रीहर्ष कहते हैं—दशो दिशाओ से कामार्त राजा लोग इसके चरण-कमल मे शरण पाने के लिए आयेंगे—इसी बात को बताने के लिए ही, मानो ब्रह्मा ने इसके पैरो मे अगुलियो के रूप मे दस रेखाए खीच दी हैं ।

१७०

सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं
मुक्ताकलाप लुठसि स्तनयोः प्रियायाः ।
बाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा
स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि ॥

भावार्थः—कोई कवि अपनी प्रियतमा के वक्षःस्थल पर लटकते हुए मोतियो के हार को सम्बोधन करके कहता है—ऐ मुक्ताहार, तुम सिर्फ एक बार ही सुई की नोक से छेदे गये हो

श्रौर उसी के फलस्वरूप मेरी प्रियतमा के स्तनों पर लोट रहे हो। अरे! हम तो सैकड़ों बार कामदेव के वाणों से मर्म-स्थान में छेदे गये हैं, पर हमें तो वह स्वप्न मे भी दिखाई नही देती!

यश और प्रताप

१७१

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम् ।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्त्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥

भावार्थ —किसी राजा की प्रशसा मे एक कवि कहता है—"हे राजन्, जब आप युद्ध के मैदान मे धनुषवाण लेकर आये और धनुष को आपने चढाया तो सुनिये किस-किसने किसको-किसको पाया। धनुष ने बाणो को पाया, बाणो ने शत्रु के शिर को पाया, शिर ने पृथ्वी तल को पाया, पृथ्वी-मण्डल ने आपको पाया, आपने अतुल कीर्ति को पाया और कीर्ति ने तीनो लोको को पाया। सग्राम मे विजय पाने से आपकी कीर्ति तीनो लोको मे फैल गयी—इस बात को कवि ने कैसे अनोखे ढग से कहा है।"

१७२

हिमशिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरत्सु
स्तनतपनवनांभोहर्म्यगोक्षीरपानैः ।

सुखमनुभव राजन् शत्रवो यान्तु नाशं
दिवसकमललज्जाशर्वरीरेणुपंकैः ॥

भावार्थ—किसी राजा को आशीर्वाद देता हुआ कवि कहता है—हे राजन् (१) हेमन्त, (२) शिशिर, (३) वसन्त, (४) ग्रीष्म, (५) वर्षा तथा (६) शरत् इन छहों ऋतुओं में आप क्रम से (१) स्त्रियों के स्तन, (२) सूर्य का घाम, (३) वन तथा बाग, (४) नदी तथा सरोवर का जल (५) ऊंचे-ऊंचे महल और (६) गौ का दुग्ध, इन वस्तुओं से ऋतुओं के अनुसार सुख का अनुभव करें और आपके शत्रु ऋतुओं के अनुसार यथाक्रम (१) दिन, (२) कमल, (३) लज्जा, (४) रात, (५) धूल तथा (६) पंक के साथ-साथ नाश को प्राप्त हों।

१७३

यथा यथा ते सुयशो विवर्द्धते
सितां त्रिलोकीमिव कर्तुमुद्यतम्।
तथा तथा मे हृदयं विदूयते
प्रियालकालीधवलत्वशंकया ॥

भावार्थः—किसी राजा की प्रशंसा में कोई कवि कहता है—'हे राजन्, तीनों लोकों को श्वेत करता हुआ आपका यश जैसे-जैसे फैलता जा रहा है, वैसे-वैसे मेरे हृदय में शंका बढ़ती जा जा रही है। शंका यह है कि जब समस्त जगत् श्वेत हो जायेगा, तो कहीं मेरी प्रियतमा की अलकावली भी सफेद न हो जाय। तब मैं क्या करूंगा, यही मेरी चिन्ता है।

१७४

देव त्वद्यशसि प्रसर्पति जगल्लक्ष्मीसुधोच्चैःश्रव-
श्चन्द्रैरावतकौस्तुभाः स्थितिमिवामन्यन्त दुग्धाम्बुधौ ।
किन्त्वेकः पुनरस्ति दूषणकणो यन्नोपयाति भ्रमा-
त्कृष्णं श्रीः शितिकण्ठमद्रितनया नीलाम्बरं रोहिणी ॥

भावार्थः—किसी राजा की प्रशसा में एक कवि कहता है—हे राजन्, आपका यश जगत् मे फैलते ही चारों ओर श्वेत ही श्वेत हो गया और लक्ष्मी, सुधा, उच्चैःश्रवा घोड़ा, चन्द्रमा, ऐरावत हाथी, कौस्तुभ मणि इत्यादि जितने पदार्थ समुद्रमन्थन से निकले थे, सब के सब फिर से अपना निवास क्षीर-सागर मे समझने लगे। लेकिन इससे एक बात बड़ी खटकने वाली हो गयी—वह यह कि समस्त जगत् में श्वेत ही श्वेत हो जाने से, लक्ष्मी भ्रम से कृष्ण के पास, पार्वती जी नीलकण्ठ महादेव के पास और रोहिणी नीलवस्त्रधारी बलदेव के पास नही जाती, क्योंकि आप के यश के प्रभाव से कृष्ण का शरीर, महादेव का कण्ठ और बलदेव का नीला वस्त्र सब का सब सफेद हो गया। इससे लक्ष्मी इत्यादि को कृष्ण इत्यादि के बारे मे भ्रम हो रहा है कि वे हमारे पति हैं या और कोई।

१७५

त्वद्यशोजलधौ राजन् निमज्जनभयादिव ।
सूर्येन्दुबिम्बमिषतो धत्ते कुंभद्वयं नभः ॥

भावार्थः—किसी राजा की प्रशंसा में एक कवि कहता है—हे राजन्, तुम्हारे यश रूपी समुद्र मे कही डूब न जाऊँ, इस डर से आकाश, तैरने के लिए, सूर्य-विम्ब और चन्द्र-बिम्ब इन दो घड़ों को धारण किये हुए है। एक ओर सूर्य और दूसरी ओर चन्द्रमा ये दो घडे हैं, जिन्हे आकाश, डूबने से बचने के लिए, अपने गले मे लटकाये हुए है।

१७६

राजंस्त्वत्कीर्तिचन्द्रेण तिथयः पूर्णिमाः कृताः।
मद्गेहान्न बहिर्याति तिथिरेकादशी भयात् ॥

भावार्थः—एक भूख का सताया हुआ, कोई निर्धन कवि, किसी राजा से याचना करता हुआ कहता है—हे राजन्, आपके यश रूपी चन्द्रमा का प्रकाश चारो ओर फैलने से कही अन्धकार नही रहा और जितनी तिथियाँ थी सब पूर्णिमा हो गयी। परन्तु मेरे घर से एकादशी डर के मारे नही जाती अर्थात् मेरे घर में तो सदा एकादशी ही बनी रहती है। अन्न न होने से मेरे घर मे सब को भूखा रहना पड़ता है, इसलिए कुछ दीजिए—इस बात को कवि ने कैसे व्यंगात्मक रूप से कहा है।

१७७

सरस्वती स्थिता वक्त्रे लक्ष्मीर्वेश्मनि ते स्थिता।
कीर्तिः किं कुपिता राजन्येन देशान्तरं गता ॥

भावार्थः—किसी राजा की कीर्ति दिग्दिगान्तर में फैली

हुई है, इस बात को कवि ने कैसे अनोखे ढग से कहा है—हे राजन्, सरस्वती आपके मुख मे वसी हुई है और लक्ष्मी आपके घर मे ठहरी हुई है। पर क्या कारण है कि आपकी कीर्ति आपसे रूठ कर दूर-दूर के देशो मे चली गयी है ?

१७८

त्वत्कीर्त्तिराजहंस्या वैरिवधूवदनभाजनस्थमपि ।
पीतं हासक्षीरं व्यक्तीकृतमश्रुनीरं च ॥

भावार्थ.—किसी राजा की प्रशसा मे कवि कहता है—हे राजन्, राजहस का नीरक्षीर विवेक आपके, सम्बन्ध मे पूर्णरूप से चरितार्थ होता है। आपकी कीर्ति रूपी राजहसी ने, आपके शत्रुओ की रानियो के मुख रूपी पात्र मे रखे हुए, हास रूपी दूध को तो पी लिया और आँसू रूपी नीर को छोड दिया। आपके द्वारा जीते गए शत्रुओ की रानियाँ रो रही हैं और उनका हँसना-बोलना सब लोप हो गया है, इस बात को कवि ने कैसे अनोखे ढग से कहा है।

१७९

कीर्त्तिस्वर्गतरगरगीभिरभितो वैकुण्ठमाप्लावितं
क्षोणीनाथ तव प्रतापतपनैः सन्तापितः क्षीरधिः ।
इत्येवं दयितायुगेन हरिणा त्वं याचितः स्वाश्रयं
हृत्पद्मं हरये श्रिये स्वभवनं कण्ठं गिरे दत्तवान् ॥

भावार्थः—एक कवि किसी राजा की प्रशसा मे कहता है—पृथ्वीनाथ, आपकी कीर्त्ति रूपी स्वर्गंगगा की बाढ मे, वैकुण्ठ बिलकुल डूब गया और क्षीरसागर भी आपके प्रताप रूपी सूर्य के ताप से सन्तापित हो गया। अतएव विष्णु भगवान् के लिए, जो या तो वैकुण्ठ मे रहते थे या क्षीरसागर मे, अब रहने के लिए कोई ठौर न रह गया। तब उन्होने अपनी दोनो स्त्री, लक्ष्मी और सरस्वती, सहित आपसे रहने के लिए स्थान मागा। जिस पर आपने विष्णु भगवान् को अपना हृदय रूपी कमल, लक्ष्मी को अपना भवन और सरस्वती को अपना कण्ठ रहने के लिए दे दिया। आपके हृदय मे विष्णु भगवान् का, आपके घर मे लक्ष्मी का और आपके मुख मे सरस्वती का वास है—इस बात को कवि ने कैसे अनोखे ढग से कहा है।

१८०

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थ-
स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो सत्कवीनां स्वभावः।
गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो बल्लभा देव कीर्तिः॥

भावार्थः—एक कवि किसी राजा के पास जाता है और उस के यश का वर्णन करता हुआ कहता है—महाराज, किसी के घर का छिद्र कहने से मेरा कोई मतलब नही है। पर मैं क्या करूँ, कवियो का यह स्वभाव होता है कि वह चुप नही रह सकते, अतएव कहना पडता है कि आपकी कीर्ति कैसी उच्छृखल

हो गयी है कि घर मे नही बैठती। घर-घर मे, बाजारो मे, चौराहो पर, यहाँ तक कि मधुशालाओ (मदिरालयो) मे भी, जहाँ लोग शराब पीते हैं, उन्मत होकर घूम रही है। आप की कीर्ति चारो ओर फैली हुई है, इस बात को कवि ने कैसे अनोखे ढग से कहा है।

१८१

अत्युन्नतैस्ते यशसां प्ररोहैर्जातं सितं विश्वमिदं समस्तम्।
नोचेत्फिरंगाः सितदेहरंगा द्वीपान्तरे ब्रूहि कथं विभान्ति॥

भावार्थः—एक राजा के यश की प्रशसा मे कवि कहता है—हे राजन्, आपके उन्नत और निरन्तर बढते हुए यश का जैसे-जैसे विस्तार होता गया, वैसे-वैसे समस्त ससार श्वेत होता गया। यदि यह बात नही है तो आप ही बताइये, इगलैण्ड, योरप, अमेरिका आदि देशो मे जो ये सफेद रग के लोग दिखाई पडते है, वे वहाँ कैसे दिखाई पडते। आप ही के यश की कृपा से वे सफेद हो गए हैं।

१८२

महाराज श्रीमन् जगति यशसा ते धवलिते
पयःपारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते।
कपर्दी कैलाशं सुरपतरपि स्वं करिवरं
कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना॥

भावार्थः—कोई कवि किसी राजा के यश का वर्णन करता

हुआ कहता है—महाराज, आपके निर्मल, श्वेत यश के प्रभाव से समस्त संसार श्वेत-ही-श्वेत हो गया। उस अवस्था मे जितनी श्वेत वस्तुएँ थी वह श्वेत रग मे ढक गयी। श्वेत और श्वेत में कोई अन्तर नही रहा। अतएव भ्रम मे पडकर भगवान् विष्णु अपने क्षीर-सागर को, महादेव जी अपने कैलाश को, इन्द्र अपने श्वेत ऐरावत को, राहु चन्द्रमा को, ब्रह्मा जी अपने श्वेत हस को ढूंढ रहे है कि कहाँ गया।

१८३

मेघो भाति जलेन गोस्तु पयसा विद्वन्मुखं भाषया
तारुण्येन च कामिनी मधुरया वाण्या पिकः खं जलात्।
मालिन्यान्नयनं श्रिया च सदनं ताम्बूलरागान्मुखं
ब्रह्माण्डं सकलं त्वया नरपते भाति स्म चित्रं महत्॥

भावार्थः—किसी राजा की प्रशंसा मे एक कवि कहता है—हे राजन्, मेघ की शोभा वर्षा से होती है, गाय की शोभा उसके दूध से होती है, विद्वान् के मुख की शोभा उसकी वाणी से होती है, स्त्री की शोभा उसकी तरुनाई से होती है, कोयल की शोभा उसकी मधुर बोली से होती है, आकाश की शोभा जल से होती है, नेत्रों की शोभा काजल से होती है, सदन की शोभा धन से होती है, अधर की शोभा पान की लाली से होती है, पर समस्त जगत् की शोभा केवल आप से हो है।

१८४

आयुर्वृद्धिमुपैतु ते नरपते हेमन्तरात्रिर्यथा
लोकानां प्रियवर्धनो भव सदा हेमन्तसूर्यो यथा ।
लोकानां भयवर्धनो भव सदा हेमन्ततोयं यथा
नाशं यान्तु तवारयोऽपि सततं हेमन्तपद्मं यथा ॥

भावार्थः—हेमन्त ऋतु मे कोई कवि किसी राजा के पास जाकर, हेमन्त ऋतु का वर्णन करता हुआ, राजा को आशीर्वाद देता है—हे राजन्, आपकी आयु उसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त हो; जिस प्रकार कि हेमन्त की रात्रि वृद्धि को प्राप्त होती है, आप लोगो को वैसे ही प्रिय हो जैसे कि हेमन्त का सूर्य (घाम) लोगो को प्रिय होता है, आप का प्रताप लोगो को वैसा ही भयदायक हो, जैसा कि हेमन्त ऋतु मे जल लोगो को भयदायक होता है, और आपके शत्रु उसी तरह नाश को प्राप्त हों, जिस तरह कि हेमन्त ऋतु मे कमल नाश को प्राप्त होता है।

१८५

अर्धं दानववैरिणा गिरिजयाऽप्यर्धं हरस्याहृतं
देवेत्थं भुवनत्रये स्मरहराभावे समुन्मीलति ।
गंगा सागरमम्बरं शशिकला शेषश्च पृथ्वीतलं
सर्वज्ञत्वमधीश्वरत्वमगमत्त्वां मां च भिक्षाटनम् ॥

भावार्थः—किसी राजा के पास जाकर एक कवि कुछ पाने

की लालसा से उसकी प्रशसा मे कहता है—हे राजन्, भगवान् महादेव का आधा भाग तो विष्णु भगवान् ने ले लिया और आधा भाग पार्वती ने। इस प्रकार जब महादेव जी बिलकुल लोप हो गये, उनका अस्तित्व ही न रहा, तो जो जो उन पर निर्भर थे, वे निराधार हो कर अन्यत्र चले गये। जैसे कि उनकी जटा मे रहने वाली गगा समुद्र मे चली गयी और चन्द्रमा की कला आकाश मे चली गयी। शेषनाग जो उनके गले का हार था, पाताल मे चला गया। उनकी सर्वज्ञता और अधीश्वरता आपके पास आ गयी। परन्तु जो उनका भिक्षाटन (दर दर भीख मागना) था वह मेरे पास आ गया। अर्थात् मैं याचक होकर आया हूँ, मुझे कुछ दीजिये, इस बात को कवि ने कैसे अच्छे ढग से कहा है।

१८६

एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र
देव द्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च।
तापं च संमदरसं च रतिं च पुष्णन्
शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥

भावार्थः—कोई कवि किसी राजा की प्रशसा मे कहता है— हे राजन्, आप हैं तो एक, पर तीन जगह अर्थात् शत्रुओं के हृदय मे, विद्वानो के हृदय मे तथा मृगनयनी स्त्रियो के हृदय मे, अलग-अलग निवास करते हैं, यह एक बडी विचित्र बात है। शत्रुओं के हृदय मे आप अपनी वीरता की गर्मी से ताप, विद्वानो के हृदय मे आप अपने विनयगुण से हर्ष और युवतियो के हृदय

मे श्राप अपनी रतिलीला से शृंगार रस, एक साथ उत्पन्न करते हैं—यह एक अनोखी घटना है।

१८७

तुलाधारो धाता यदि वसुधा शूर्पपदवीं
फणीशः स्यात्सूत्रं कनकशिखरो मानपलिका।
तुलादण्डः सत्यं यदि भवति दामोदरगदा
तथाप्येषोऽशक्यस्तव गुणसमूहस्तुलयितुम् ॥

भावार्थ.—किसी राजा की प्रशसा मे एक कवि कहता है—हे राजन्, ब्रह्मा यदि तोलने वाला हो, समस्त पृथ्वी यदि उस तराजू का पलडा हो, शेषनाग यदि उस तराजू की डोरी हो, सुमेरु पर्वत उस तराजू का बटखरा हो और भगवान् विष्णु की गदा उस तराजू की डडी हो—तब भी आपके गुणों के समूह को तोलना असभव है।

१८८

निजानपि गजान् भोजं ददानं प्रेक्ष्य पार्वती।
गजेन्द्रवदनं पुत्रं रक्षत्यद्य पुन. पुनः ॥

भावार्थ —राजा भोज की उदारता की प्रशसा मे एक कवि कहता है—राजन्, अन्य हाथियो की तो बात ही क्या है, राजा भोज को स्वय अपने ही हाथियो को दान मे देते देख कर पार्वती जी अपने हाथो के मुख वाले पुत्र गणेश की रक्षा बडे ध्यान से कर रही हैं, क्योकि उन्हे डर है कि राजा भोज कही

उसे भी किसी याचक को न दे डालें। इसी भाव को लेकर पद्माकर ने नीचे दिया पद्य राजा रघुनाथ राव पेशवा की प्रशसा मे लिखा था—

सम्पति सुमेर की कुवेर की जो पावे कहूँ
तुरत लुटावत विलम्ब उर धारै ना।
कहे पद्माकर सुहेम हाय हाथिन के
हलके हजारन को वितर विचारै ना॥
गज गज वकस महीप रघुनाथ राउ
याही गज धोखे कहूँ तोहि देई डारै ना।
यातें गौरि गिरिजा गजानन को गोय रही
गिरि ते गरे ते निज गोद ते उतारै ना॥

१८६

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ
वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा
विधिः कुण्डलनां विधोरपि॥

भावार्थ—नल के यश और प्रताप का वर्णन करते हुए महाकवि श्री हर्ष अपने नैषध-चरित मे लिखते हैं—"नल के यश और प्रताप के रहते हुए, फिर सूर्य और चन्द्रमा की क्या आवश्यकता है, उनका रहना व्यर्थ है, इनको मैंने व्यर्थ ही बनाया है"—इस प्रकार ब्रह्मा जी जब-जब अपने मन मे सोचते हैं, तब-तब वे सूर्य के चारो ओर तथा चन्द्रमा के चारो ओर

एक परिधि या मण्डल रेखा खीच देते है। इसीलिए कभी सूर्य और कभी चन्द्रमा के चारों ओर एक परिधि या गोल रेखा खिंची हुई दिखाई देती है। ऐसा कभी-कभी ही होता है, क्योंकि ब्रह्मा के मन में जब-जब ऐसा विचार उठता है, तभी-तभी यह बात दिखाई देती है, सदा नही। प्राचीन परिपाटी के अनुसार जब भूल से कोई अक्षर अनावश्यक या व्यर्थ लिख दिया जाता था, तो लिखने वाला यह दिखाने के लिए कि यह व्यर्थ है, उस अक्षर के चारो ओर एक गोल रेखा खीच देता था। इसी प्रकार ब्रह्मा भी सूर्य और चन्द्रमा के चारों ओर गोल रेखा कभी-कभी खीच देते हैं।

१६०

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ।।

भावार्थः—नवो रस जिनके सामने हाथ जोड़े खडे रहते है, ऐसे रसिक, सुकृती महाकवियो को जय हो, जिनका भौतिक शरीर तो नाश हो जाता है, पर यश रूपी शरीर सदा अजर और अमर बना रहता है। इसी भाव का एक उर्दू शेर भी है—

रहता सखुन से नाम कयामत तलक है जौक ।
औलाद से बस यही दो पुश्त चार पुश्त ।।

१६१

जानीते यन्न चन्द्रार्कौ जानन्ते यन्न योगिनः ।
जानाते यन्न भर्गोऽपि तज्जानाति कविः स्वयम् ।।

भावार्थः—जिसको सूर्य और चन्द्रमा भी नही जानते, जिस को योगी लोग भी नही जानते, जिसको स्वय ब्रह्मा भी नही जानते, उसको कवि साक्षात् जान लेता है।

१६२

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां निगूढ़ो
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां प्रकाशः ।

अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्
सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः ।।

भावार्थः –कविता का भाव न बहुत गूढ होना चाहिए और न बहुत प्रगट, इसी भाव को कवि ने इस श्लोक मे बडे सुन्दर ढग से प्रकट किया है— काव्य का अर्थ न तो आन्ध्र प्रदेश की स्त्रियो के पयोधर के समान, बिलकुल गूढ या छिपा हुआ होना चाहिए और न गुर्जर प्रदेश की स्त्रियो के स्तनो के समान, बिलकुल प्रगट ही होना चाहिए। बल्कि महाराष्ट्र प्रदेश की स्त्रियो के कुचो के समान, कुछ गूढ और कुछ प्रकट होकर, कविता का अर्थ शोभा देता है। इसी भाव पर एक दूसरा श्लोक भी नीचे देखिए।

१६३

कूर्पासकेनार्धतिरोहितौ कुचौ
रम्यौ रमण्याः कविताक्षराणि च ।
अर्द्धं निगूढानि सुशोभितान्यलं
नात्यन्तगूढानि न वा स्फुटान्यपि ।।

भावार्थ.—चोलो से ढके हुए कामिनी के कुच और कविता के अक्षर तभी शोभा देते हैं, जब वे कुछ छिपे और कुछ खुले रहते हैं। बिलकुल ढके अथवा बिलकुल खुले शोभा नही देते। इसी श्लोक का, हिन्दी के किसी कवि ने, अच्छा अनुवाद इस दोहे मे किया है—

कवि आखर अरु तिय सुकुच, अध उघरे सुख देत।
अधिक ढकेहू सुखद नहि, उघरे महा अहेत ॥

१६४

सत्कविरसनाशूर्पीनिस्तुषतरशब्दशालिपाकेन ।
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधा दासी ॥

भावार्थः—अच्छे कवियों की वाणी रूपी सूप से पछोडे गए (चुन-चुन कर कविता मे रखे गए) शब्द रूपी चावल के पाक (पुलाव) से जिनकी तृप्ति हो गई है, ऐसे रसिक पाठक दयिता (प्रियतमा) के अधर का भी आदर नही करते, फिर बेचारी सुधा (अमृत) की तो बात ही क्या है। अमृत भी सरस कविता के आगे हेच है।

१६५

कविता वनिता चैव स्वयमेवागता वरम् ।
बलादानीयमाना तु सरसा विरसा भवेत् ॥

भावार्थः—कविता तथा वनिता (स्त्री) स्वय आ जाय, खीचा-तानी न करनी पडे, तभी अच्छी है। और यदि बलपूर्वक जबर्दस्ती लायी जाए, चाहे वह कविता हो या वनिता, तो सरस भी होगी तो नीरस हो जाएगी। कविता वही अच्छी है जो स्वाभाविक और प्रसादगुण-विशिष्ट हो। बलपूर्वक शब्दो को जोड-जाड कर बनायी गई कविता मन को हरने वाली नही होती।

१६६

तया कवितया किं वा तया वनितया च किम् ।
पदविन्यासमात्रेण यया नापहृयते मनः ॥

भावार्थ :—उस वनिता (कामिनी) से क्या जो अपने पद-विन्यास (अठखेली चाल) से ही देखने वालों का मन न हर ले। उसी प्रकार उस कविता से क्या जो पदविन्यास (शब्दों की रचना) मात्र से ही सुनने या पढने वाले का मन न हर ले। "पद" शब्द मे उत्तम श्लेष है। पद का अर्थ "चरण" तथा "शब्द" दोनो है।

१६७

कान् पृच्छामः सुराः स्वर्गे निवसामो वयं भुवि ।
किं वा काव्यरसः स्वादुः किं वा स्वादीयसी सुधा ॥

भावार्थः—देवता लोग स्वर्ग मे निवास करते हैं और हम पृथ्वी पर रहते हैं। फिर किससे पूछे कि काव्य का रस अधिक स्वादिष्ट है या अमृत अधिक स्वादिष्ट है ?

१६८

सुभाषितं हारि विशत्यधोगलान्न दुर्जनस्यार्करिपो रिवामृतम् ।
तदेव धत्ते हृदयेन सज्जनो हरिर्महारत्नमिवातिनिर्मलम् ॥

भावार्थः—सुभाषित (सुन्दर काव्य) दुर्जन के गले के नीचे उसी तरह नही उतरता, जिस तरह कि समुद्र-मन्थन के बाद निकला हुआ अमृत राहु के गले के नीचे नही उतरा था। उसी सुभाषित को सुनकर सज्जन लोग इस प्रकार अपने हृदय मे धारण कर लेते हैं, जिस प्रकार कि विष्णु भगवान् ने कौस्तुभ मणि को अपने हृदय पर धारण कर लिया था। जिस सुन्दर काव्य की प्रशसा करने मे दुष्टजन ईर्षा या द्वेष वश मौन रहते हैं, मानो उनको जीभ पर लकवा लग गया हो, उसी की प्रशसा रसिक सज्जन जी खोलकर करते हैं।

१९९

दुर्जनहुताशदग्धं काव्यसुवर्णं विशुद्धिमुपयाति ।
दर्शयितव्यं तस्मान्मत्सरिमनसः प्रयत्नेन ॥

भावार्थ—काव्यरूपी सोना दुर्जन और ईर्षालु समालोचको की ईर्षारूपी अग्नि से तपकर, और भी शुद्ध हो जाता है तथा चमकने लगता है। इसलिए अपने रचे हुए काव्य को प्रयत्न-पूर्वक ईर्षालु लोगो मे समक्ष रखना चाहिए।

२००

अतिरमणीये काव्येऽपि पिशुनो दूषणमन्वेषयति ।
अतिरमणीये वपुषि व्रणमेव हि मक्षिकानिकरः ॥

भावार्थ—काव्य कितना ही सुन्दर क्यो न हो, किन्तु छिद्रान्वेषी दुष्ट मनुष्य उसमे केवल दोष ही ढूंढता है, जिस

प्रकार कि शरीर कितना ही सुन्दर क्यों न हो, किन्तु मक्खियाँ वहीं बैठती हैं, जहाँ घाव होता है।

२०१

स एव रसिको लोके श्रुत्वा काव्यं परैः कृतम् ।
उत्पद्यते च युगपद्वदनेऽक्ष्णोश्च यस्य "वाः" ।।

भावार्थ :—संसार में वही असली रसिक है, जो दूसरों के द्वारा रचे गए सुन्दर काव्य को सुनकर, आनन्द से विभोर हो उठे और सुनते ही जिसके मुख से "वाह" और आँखों से आनन्द के आँसू एक साथ निकल पड़ें। "वा" शब्द में श्लेष है—"वाः" माने "वाह" और "जल" दोनों हैं।

२०२

हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता
जनः स्पर्धालुश्चेदहह कविना वश्यवचसा ।
भवेदद्य श्वो वा किमिह बहुना पापिनि कलौ
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः ।।

भावार्थः—बड़ी खींचातानी के बाद कुछ पदों की रचना करने वाला मनुष्य, यदि ऐसे कवियों के साथ बराबरी का दावा करे, जिनके सामने वाणी हमेशा हाथ जोड़े खड़ी रहती है, तो इस पापी कलि काल में सब कुछ सम्भव है। ऐसी होड़ में, आज हो या कल, किसी दिन घड़ों के बनाने वाला कुम्हार भी तीनों लोकों के बनाने वाले ब्रह्मा की बराबरी का दावा कर सकता

है। क्योंकि निर्माण दोनो ही करते हैं। ब्रह्मा तीनो लोको की रचना करता है तो क्या हुआ, कुंभकार भी तो घडे का निर्माण करता है।

२०३

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः ।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पंचवाणस्तु बाणः
केषां नैषा कथय कविता-कामिनी कौतुकाय ॥

भावार्थ—चोर नामक कवि जिसका केशभार है, मयूर कवि जिसका कर्णपूर (इयररिंग) हैं, भास कवि जिसकी मृदु मुस्कान है, कविकुलगुरु (कवियो मे श्रेष्ठ) कालिदास जिसके विलास (हाव-भाव) है, श्रीहर्ष कवि जिसका हर्ष है, बाण कवि जिसके हृदय मे बसने वाला कामदेव है—ऐसी कविता रूपी कामिनी बताओ, कौन ऐसा है जिसको आनन्द न देगी।

२०४

नैव व्याकरणज्ञमेति पितरं न भ्रातरं तार्किकं
दूरात्संकुचितेव गच्छति पुनश्चाण्डालवच्छान्दसम् ।
मीमांसानिपुणं नपुंसकमिति ज्ञात्वा निरस्तादरा
काव्यालंकरणज्ञमेत्य कविताकान्ता वृणीते स्वयम् ॥

भावार्थ—कवितारूपी कामिनी वैयाकरण (व्याकरण के

पण्डित) को पिता के समान समझकर, उसके पास आती ही नही, नैयायिक (न्याय के विद्वान्) को अपना भाई समझती है, उसके पास भी आने का कोई प्रश्न ही नही उठता, छान्दस (कोरे वेदपाठी विद्वान्) को चाण्डाल के समान दूर से ही वर्जती है, मीमासक (मीमासा शास्त्र के विद्वान्) को नपुंसक समझकर निरादर करती है, परन्तु काव्य के मर्मज्ञ, अलकार शास्त्र के पण्डित को स्वय आकर वरण करती है।

२०५

सरसो विपरीतश्चेत् सरसत्वं न मुंचति।
साक्षरा विपरीताश्चेद्राक्षसा एव केवलम्॥

भावार्थ—'सरस' को यदि उलट दो तो 'सरस' ही बना रहता है, अपनी सरसता नही छोडता। परन्तु कोरे 'साक्षर' को, जिसमे रसिकता छू भी नही गयी है, यदि पलट दो तो वह केवल 'राक्षस' हो जाता है।

कवियों की गर्वोक्ति

२०६

विद्वांसो वसुधातले परवचःश्लाघासु वाचंयमाः
भूपालाः कमलाविलासमदिरोन्मीलन्मदाघूर्णिताः ।
आस्ये धास्यति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालस-
स्वर्वामाधरमाधुरीमधरयन् वाचां विलासो मम ॥

भावार्थः—इस पृथ्वीतल पर जो कवि और विद्वान् हैं, उनका हाल यह है कि जब किसी दूसरे कवि के काव्य की प्रशंसा का समय आता है तो मौन धारण कर लेते है, उनके मुख से किसी की प्रशसा निकलती ही नही। जो धनी और राजा लोग हैं, उनकी आँखें लक्ष्मी के विलास की मदिरा पीने से मतवाली हो रही हैं, उनको कविता का आनन्द लेने और उसका रसास्वादन करने की योग्यता और फुर्सत ही कहाँ ? तब बताओ, स्वर्ग की अप्सराओं के अधर की मिठास को भी मात करने वाली मेरी वाणी (कविता) का विलास किसके मुख में नर्तन करेगा ? कौन मेरी कविता को कदर करेगा ? यह गर्वोक्ति पण्डितराज जगन्नाथ की है। इसका हिन्दी पद्यानुवाद एक कवि ने इस प्रकार किया है:—

ऐसे भूमि मण्डल मे पण्डित अनेक हैं जो,
दूजे की प्रशसा करिवे में दुख पावें महा।

भूप हैं कितेक जाको लच्छिमी विलासवती,
मद्य के नशे तें सदा दोऊ नैन घूमि रहा।
हाय! अब कौन धन्य जन है जगत बीच,
जाके मुख मन्दिर मे करिहैं उजास जहाँ।
काम अलसानी देवतानो की सुमाधुरी को,
नीच करि वानी मम करिहै विलास कहाँ॥

२०७

यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयापि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते।
मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः॥

भावार्थः—कितनी ही सुन्दर स्त्री क्यो न हो, वह जिस प्रकार युवा के हृदय को अपनी ओर खीच लेती है, उसी प्रकार कुमारो (बालको) के हृदय को आकर्षित नही करती। इसी तरह मेरी कविता यदि सहृदय विद्वानो के हृदय मे सुधा के समान आह्लाद उत्पन्न करती है, तो फिर नीरस पुरुष उसका अनादर भी करे, तो उससे क्या? यह एक कवि की गर्वोक्ति है।

२०८

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः।

इदानी लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन् मृगपतिः ॥

भावार्थ —अपनी बराबरी का कोई कवि इस समय नही है, जो हैं भी वे एकाध कही पडे होगे, इस भाव को प्रकट करती हुई यह पण्डितराज जगन्नाथ की गर्वोक्ति है —ऐसा सुना जाता है कि जिनके गण्डस्थल से मद चू रहा है, ऐसे मतवाले दिग्गज हाथी दिशाओ के छोर मे कही निवास करते हैं। रह गयी हथनिया, उनसे क्या बराबरी ? वे तो करुणा की पात्र हैं। मृगो से भी क्या तुलना ? वे अपनी बराबरी के नही हैं। ऐसी दशा मे बताओ, मृगराज सिंह इस समय ससार मे अपने अनोखे और नोकीले नखो का पाण्डित्य (तीखापन) किस पर प्रगट करे ? इसका हिन्दी मे पद्यानुवाद किसी कवि ने इस प्रकार किया है—

भाजि दिगन्त गये डरिकै वर वीर गयन्द सबै मतवारे,
दीन बडी हरणी करणी तिनको मुविलोकि दया उर धारे।
"विप्रमुचन्द" भली उपमा तिनकी दिसरात नही जगसारे,
तीखनता अपने नख को प्रगटावं कहा मृगराज विचारे ॥

२०६

निन्द्यन्ते यदि नाम मन्दमतिभिर्वक्राः कवीनां गिरः
स्तूयन्ते न च नीरसैर्मृगदृशां वक्राः कटाक्षच्छटाः ।
तद्वैदग्ध्यविदां सतामपि मनः किं नेहते वक्रतां
धत्ते किं न हरः किरीटशिखरे वक्रां कलामैन्दवीम् ॥

भावार्थः—यदि मन्दमति मूर्ख लोग कवियों की वक्र वाणी (ध्वन्यात्मक सरस अनोखे काव्य) की निन्दा करें अथवा नीरस (अरसिक) जन मृगनयनियों के वक्र (तिरछे) और अनोखे कटाक्षों की छटा की प्रशंसा में वाह वाह न करें, तो इससे क्या ? परन्तु जो रसिक और गुणग्राही हैं, क्या उनका मन इस वक्रता (व्यंग्यात्मक काव्य) से मोहित नहीं होता ? क्या महादेव जी स्वयं वक्र (टेढ़े) चन्द्रमा की कला को अपने सिर पर धारण नहीं करते ? "वक्र" शब्द में श्लेष है—वक्र का अर्थ टेढ़ा और व्यंग्यपूर्ण (ध्वन्यात्मक) दोनों हैं।

२१०

ये केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्तु ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिविपुला च पृथ्वी ॥

भावार्थः—यदि इस संसार में कोई ऐसे हैं, जो मेरी अवज्ञा करते हैं—मेरी कविता का अनादर करते हैं और मुझे तुच्छ समझते हैं, तो वे जान लें कि नाटक या कविता लिखने का मेरा यह प्रयास उनके लिए नहीं है। यह पृथ्वी बड़ी विस्तृत है और काल का भी कोई ओर-छोर नहीं है। कहीं न कहीं और कभी न कभी, तो मेरे समान शील और स्वभाव वाला मनुष्य पैदा होगा और मेरी कदर करेगा। यह गर्वोक्ति महाकवि भवभूति की है।

कामदेव की विचित्र महिमा

२११

स जयति संकल्पप्रभवो रतिमुखशतपत्रचुम्बनभ्रमरः ।
यस्यानुरक्तललनानयनान्तविलोकने वसतिः ॥

भावार्थः—उस कामदेव की जय हो, जिसका जन्म ही अद्भुत है अर्थात् जो ब्रह्मा के संकल्पमात्र से उत्पन्न हुआ है, जो रति के मुख-रूपी कमल का चुम्बन करने वाला भ्रमर है और जिसका निवासस्थान भी बिलकुल अनोखा है, अर्थात् जो मद से मतवाली कामिनी स्त्रियों की तिरछी चितवन में निवास करता है।

२१२

शंभुस्वयंभुहरयो हरिणेक्षणानां
येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः ।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रताय
तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय ॥

भावार्थः—जिसने महादेव, ब्रह्मा और विष्णु को भी मृग-नयनियों के घर का निरन्तर दास बना दिया है और जिसके चरित्र की विचित्रता वाणी के वर्णन से परे है, उस भगवान् कुसुमायुध कामदेव को नमस्कार है !

२१३

अबलानां दृशैवाशु यो निहन्ति बलीयसः ।
तस्मै कुसुमबाणाय नमो लोकोत्तरौजसे ।।

भावार्थ :—"अबला" कही जाने वाली मृगनयनियों की एक तिरछी दृष्टि से ही, जो बड़े से बड़े बली लोगों को तत्काल मार सकता है, उस कुसुम-बाण, लोकोत्तर बलशाली, कामदेव को नमस्कार है !

२१४

प्रज्ञां विनाशयत्यादौ प्रविष्टो हृदि मन्मथः ।
दक्षो गेहं समायाति दीपं निर्वाप्य तस्करः ।।

भावार्थः—जब कामदेव किसी के हृदय में अपना घर करने लगता है, तो सबसे पहले उसकी बुद्धि को हर लेता है । ठीक है, चोर जब किसी के घर में घुसता है तो पहले उस घर के दीपक को बुझा देता है । इसी भाव का फारसी का एक शेर भी है—

इश्क चू दरसीना आमद अक्लरा अव्वल रबूद ।
दुज्दे दाना वर कुनद अव्वल चिरागे खानेरा ।।

२१५

नासौ जयी जितो येन नक्रव्यालमृगाधिपाः ।
जितं तेनैव येनेह दान्तो मारस्त्रिलोकजित् ।।

भावार्थः—वास्तव में विजयी वह नहीं है, जिसने घड़ियाल,

सर्प अथवा सिंह को जीत लिया है। सच्चा विजेता तो वही है जिसने तीनो लोको को जीतने वाले कामदेव को अपने वश मे कर लिया है। इसी भाव का उर्दू का एक शेर भी है—

नेहगो अजदहाओ शेरेनर मारा तो क्या मारा।
बडे मूजी को मारा नफ्से अम्मारा को गर मारा॥

२१६

तावदेव कृतिना हृदि स्फुरत्येव निर्मलविवेकदीपकः।
यावदेव न कुरंगचक्षुषां ताड्यते चपललोचनाचलैः॥

भावार्थ.—बडे-बडे गम्भीर, यशस्वी, विद्वानो के हृदय मे निर्मल विवेक का दीपक तभी तक जलता रहता है, जबतक कि वह मृगनयनी स्त्रियो के चचल नेत्र रूपी आँचल से बुझाया नही जाता।

२१७

एकं वस्तु द्विधाकर्त्तुं बहवोऽन्येऽपि धन्विनः।
तादृशः पुनरेको यो द्वयोरैक्यविधायकः॥

भावार्थ —ऐसे तो बहुत से धनुर्धारी हैं, जो एक के दो टुकडे कर देते है। पर कामदेव रूपी कोई अनोखा धनुर्धारी है, जो दो (प्रियतम और प्रियतमा) को एक (प्रेम) मे जोड देता है।

२१८

अबला इत्यवज्ञेया न कदापि विवेकिभिः।
त्रैलोक्यं यद्दृशा दासः स्यात्तन्निर्बलता कुत.॥

भावार्थः—विवेकी पुरुषो को स्त्रियों की अवज्ञा "अवला" समझकर कभी नही करनी चाहिए। अरे! जिन्होने तीनो लोको को अपने कटाक्ष मात्र से अपना दास बना लिया है, वे "अवला" (वलहीन) कैसे कही जा सकती हैं?

२१९

हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि
प्रालेयसीकरमुचस्तुहिनांशुभासः।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि
निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः॥

भावार्थः—फूलो का हार, जल से भीगा हुआ कपडा, कमल के पत्ते, हिम की वर्षा करने वाली शीतल चन्द्रमा की चान्दनी और सरस चन्दन जिसके ईन्धन है, वह कामदेव की अग्नि कैसे बुझ सकती है? अन्य दूसरी अग्नि तो गीले ईन्धन से बुझ जाती है, पर कामदेव की आग विचित्र है, जो इन गीली और सरस चीजो से और भी प्रज्वलित होती है।

२२०

हृदयतृणकुटीरे दीप्यमाने स्मराग्नौ
उचितमनुचितं वा वेत्ति नो पण्डितोऽपि।
किमु कुवलयनेत्राः सन्ति नो नाकनार्य-
स्त्रिदशपतिरहल्यां तापसीं यः सिषेवे॥

भावार्थः—जब हृदय रूपी फूस की झोपड़ी में कामदेव की

अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, तो क्या उचित है क्या अनुचित, यह बडे से बडे पण्डित भी नही समझ सकते। देखो, स्वर्ग मे कमलनेत्र वाली सुन्दर से सुन्दर अप्सरायें क्या नही थी, तब भी इन्द्र ने तपस्विनी ऋषि-पत्नी अहल्या को नही छोडा ?

२२१

मत्तेभकुम्भदलने बहु सन्ति शूराः
केचित् प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥

भावार्थः—न जाने कितने ऐसे महान् शूरवीर है, जो मतवाले हाथी के गण्डस्थल का दलन कर, उसको अपने वश मे कर लेते है। बहुत से ऐसे भी है, जो प्रचण्ड मृगराज सिंह का भी वध करने मे दक्ष है। किन्तु मैं बडे-से-बडे बलो लोगो के सामने कहता हूँ, कि कामदेव के दर्पको चूर-चूर करने मे समर्थ कोई विरले ही मनुष्य होते है।

२२२

कृशः काणः खंजः श्रवणरहितः पुच्छविकलो
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैराचिततनुः ।
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालावृतगलः
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि निहन्त्येव मदनः ॥

भावार्थः—महा दुबला-पतला, काना, लूला, कान से बहरा,

पूछ भी जिसके नहीं है, घावों से जिसका शरीर भरा हुआ है, मवाद जिसमे से बह रहा है, कीडे जिसमे बिलबिला रहे हैं, भूख से पीडित, महाजीर्ण, गले से जिसके घेघे लटक रहे है—ऐसा कुत्ता भी कुतिया के पीछे-पीछे लगा रहता है, यह कामदेव की ही कृपा है। कामदेव मरे हुए को भी मार रहा है। धन्य है कामदेव को!

२२३

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुंजते मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरम् ॥

भावार्थः—वायु भक्षण कर, जल पीकर तथा पत्ते आदि खाकर जीने वाले विश्वामित्र, पराशर आदि मुनि भी सुन्दर और मनोहर स्त्रियों के कमल के समान मुख को देखकर मोहित हो गये, तो फिर उनका क्या कहना जो नित्य घी, दूध और दही से युक्त कामोत्तेजक पदार्थों का भोजन करते हैं। यदि ऐसे लोग भी इन्द्रियों का दमन कर लें, तो फिर निश्चय है कि विन्ध्य पर्वत भी समुद्र मे तैर सकता है!

२२४

मनः कुरंगोद्योगः सपदि यद मे गम्यपदवीं
नरे वा नार्या वा गमनमुभयत्राप्यनुचितम् ।

यतस्ते क्लीवत्वं सकृदपि गतो हास्यपदवीं
जनस्तोमे मागास्त्वमनुसर हि ब्रह्मपदवीम् ॥

भावार्थः—मन ! तुम्हारा क्या विचार है ? जरा बताओ तो, कहाँ चले ? किसी पुरुष के पास जाना चाहते हो या स्त्री के ? दोनो मे से किसी के पास भी जाना तुम्हारे लिये अनुचित है, क्योकि तुम नपुंसक हो और वहाँ तुम्हारी अवश्य हँसी होगी। इसलिए तुम मनुष्यो के पास न जाकर "ब्रह्म" के पास जाओ। क्योकि तुम्हारा उसका जोड है। तुम भी नपुंसक लिंग हो और वह भी नपुंसक लिंग है। इस लिए तुम्हारी उसकी पट जायगी।

२२५

हारोऽयं हरिणाक्षीणां लुठति स्तनमण्डले।
मुक्तानामप्यवस्थेयं के वयं स्मरकिंकराः ॥

भावार्थः—यह श्लोक "अमरु शतक" का है और अभग श्लेप का बहुत उत्तम उदाहरण है। इसमे "मुक्तानां" इस पद मे श्लेप है, जिसका अर्थ "मोती" और "मोक्षपद-प्राप्त" दोनो हैं। श्लोक का भावार्थ यह है—मृगनयनियो के स्तनमण्डल पर यह मोतियो का हार लोट रहा है। जब निर्जीव "मोतियो" का अथवा जो "मोक्ष पद प्राप्त कर चुके हैं" ऐसे ऋषि-मुनियो का यह हाल है, तब हमारा क्या कहना, जो काम के दास हो रहे है !

निर्धन-गृहस्थ

२२६

वृद्धोऽन्धः पतिरेष मंचकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्ताऽपि नो ।
यत्नात्संचिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसा सुतवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ॥

भावार्थ —इस श्लोक में एक निर्धन, दरिद्र, कुटुम्ब का चित्र खींचा गया है—पति वृद्ध, अन्धा तथा रोगी होकर खाट से लग रहा है। घर सब ओर से जीर्ण हो रहा है, केवल एक ठूठ मात्र बच गया है। बरसात भी अब आरंभ होने ही वाली है। लड़का परदेश गया हुआ है, उसका भी कोई कुशल-समाचार नहीं मिला। बड़े यत्न से एक-एक बून्द करके छोटी-सी हांडी में तेल जमा किया था, हाय! वह हांडी भी टूट गयी। लड़के की बहू गर्भवती है, उसके बच्चा होने ही वाला है। यह दुर्दशा देखकर घर की पुरखिन सास, भुक्कार छोड़ कर, बड़े जोर से रो रही है।

२२७

वासःखण्डमिदं प्रयच्छ यदिवा स्वांके गृहाणार्भकं
रिक्तं भूतलमत्र नाथ भवतः पृष्ठे पलालोच्चयः ।

दम्पत्योरिति जल्पितं निशि यदा चौरः प्रविष्टस्तदा
लब्धं कर्पटमन्यतस्तदुपरि क्षिप्त्वा रुदन्निर्गतः ॥

भावार्थः—सर्दियों में रात को एक चोर किसी निष्किंचन दरिद्र के घर में चोरी करने के लिए घुसा, तो उस समय घर के स्वामी और उसकी घरवाली के बीच यह बातचीत हो रही थी। घरवाली कह रही थी—"स्वामी, या तो जो वस्त्र का टुकड़ा तुम पहने हुए हो, उसे मुझे दे दो तो उस पर बच्चे को सुला दूं, या बच्चे को तुम अपनी गोद में ले लो। यहां मेरे नीचे तो खाली जमीन है, बच्चे को किस पर सुलाऊं? तुम्हारी पीठ के नीचे तो पुआल भी है"—पति और पत्नी की इस बातचीत को सुनकर, रात के समय चोरी करने के लिए घुसा हुआ चोर इतना प्रभावित और द्रवित हुआ कि और जगह से चुराए हुए वस्त्र को उसके ऊपर डालकर, रोता हुआ वहां से चुपचाप लौट गया।

२२८

पङ्गो वन्द्यस्त्वमसि न गृहं यासि योऽर्थी परेषां
धन्योऽन्ध त्वं धनमदवतां नेक्षसे यन्मुखानि ।
श्लाघ्यो मूक त्वमसि कृपणं स्तौषि नार्थाशया यः
स्तोतव्यस्त्वं बधिर न गिरं यः खलानां शृणोषि ॥

भावार्थः—कोई निर्धन मनुष्य कहता है—"हे लगडे मनुष्य, तुम धन्य हो कि पंगुता के कारण तुम याचक होकर दूसरों के दरवाजे पर नहीं जाते। हे अन्धे मनुष्य, तुम भी धन्य हो कि

धन के मद मे मतवाले धनियो के मुख को नही देख सकते। हे गूगे मनुष्य, तुम भी प्रशसा के योग्य हो कि धन की आशा से, तुम कृपण धनी की स्तुति नही करते। हे बहरे मनुष्य, तुम भी धन्य हो कि तुम्हारे कानो मे नीच धनियो की दुत्कार नही सुनाई पडती।"

२२९

वासश्चर्म विभूषणं शवशिरो भस्मांगलेपः सदा
ह्येको गोः स च लांगलाद्यकुशलः संपत्तिरेतादृशी।
दृष्ट्वालोच्य विमुच्य शंकरमगाद्रत्नाकरं जाह्नवी
कष्टं निर्धनिकस्य जीवितमहो दारैरपि त्यज्यते॥

भावार्थः—निर्धन मनुष्य को, और तो और उसकी सगी स्त्री भी छोड देती है, इस बात को कवि ने महादेव जी का उदाहरण देकर बडी खूबी से कहा है—महादेव जी के वस्त्र के नाम पर केवल मृगचर्म है, भूषण उनका और कुछ नही केवल मृत मनुष्य का कपाल है, भस्म ही उनके शरीर का अगलेप (पाउडर) है, एक ही नान्दी बैल उनके पास है, सो भी खेती मे लिये हल आदि मे जोतने के लायक नहीं है; इसलिए खेती भी नही कर सकते। बस यही उनकी सम्पत्ति है—यह देखकर उनकी स्त्री गगा जो उन्हें छोड कर, रत्नों के आकर समुद्र के पास चली गयी। सच है, निर्धनता बडी दुखदायी होती है। निर्धन मनुष्य को उसकी स्त्री भी छोड देती है, और की तो बात ही क्या है?

२३०

तावत् विद्याऽनवद्या गुणगणगरिमा रूपसंपत्तिशौर्यं
स्वस्थाने सर्वशोभा परगुणकथने वाक्पटुस्तावदेव ।
यावत् पाकाकुलाभिः स्वगृहयुवतिभिः प्रेषितापत्यवक्त्राद्
हे बाबा नास्ति तैलं न च लवणमपीत्यादि वाचां प्रचारः ॥

भावार्थ :—तभी तक विद्या की प्रशसा है, तभी तक गुणो का महत्त्व है, तभी तक रूप, धन और शूरवीरता की बडाई है, तभी तक अपने घर मे अपनी पूछ और आदर है और तभी तक दूसरे के गुणो का बखान करने मे पटुता है, जब तक कि घर की स्त्रियाँ लडको को भेजकर, नाक मे दम नही कर देती कि "हे बाबा, रसोई मे न तो आज तेल है न नोन, बताओ खाना कैसे पके ?"

२३१

उत्तिष्ठ क्षणमेकमुद्वह सखे दारिद्र्यभारं मम
श्रान्तस्तावदहं चिरान्मरणजं सेवे त्वदीयं सुखम् ।
इत्युक्तं धनवर्जितस्य वचनं श्रुत्वा श्मशाने शवो
दारिद्र्यान्मरणं वरं वरमिति ज्ञात्वैव तूष्णीं स्थितः ॥

भावार्थः—एक निर्धन दरिद्र मनुष्य श्मशान मे पडे हुए किसी मृत मनुष्य के शव को सम्बोधन करके कहता है—"हे मित्र, दरिद्रता के भार को चिरकाल से ढोते-ढोते मैं बहुत थक गया हूँ, थोडी देर के लिए जरा उठ जाओ और मेरे इस भार को अपने सिर पर रख लो, जिसमे कि मृत्यु का जो सुख, तुम

भोग रहे हो, उसे मैं भी कुछ समय के लिये भोग लूं "—निर्धन मनुष्य के इस वचन को सुनकर भी, मृत मनुष्य के शव ने अनसुनी कर दी और यह समझ कर कि निर्धनता की अपेक्षा मृत्यु अधिक श्रेयस्कर है, वह वैसा ही चुपचाप पड़ा रहा, जरा भी न सनका।

२३२

क्रोशन्तः शिशवः सवारि सदनं पंकावृतं चांगणं
शय्या दंशवती च रूक्षमशनं धूमेन पूर्णं गृहम्।
भार्या निष्ठुरभाषिणी प्रभुरपि क्रोधेन पूर्णः सदा
स्नानं शीतलवारिणा हि सततं धिग्धिग्गृहस्थाश्रम्॥

भावार्थः—बच्चे रो और चीख रहे हैं, टूटा मकान वर्षा के कारण चू रहा है, आँगन मे कीचड़ छाया हुआ है; टूटी खाट उसमे भी सो मन खटमल भरे हुए हैं, रूखा-सूखा भोजन खाने को है; धुएं से घर भरा हुआ है, स्त्री कर्कशा और निठुर बात बोलने वाली है, जिस मालिक के यहाँ नौकरी है वह भी सहानुभूति से रहित और सदा क्रोधा से भरा रहता है, जाड़े मे ठंडे पानी से स्नान करना पड़ता है—यदि इसी को गृहस्थाश्रम कहते हैं, तो उसे धिक्कार है।

२३३

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे वसति च सदा दूरतस्त्वप्रगल्भः।

क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥

भावार्थ —इस श्लोक मे निर्धन सेवक का चित्र खीचा गया है—यदि सेवक चुप रहता है, बहुत बक-बक नही करता, तो मालिक समझता है कि वह गूगा है। यदि बोलने मे चतुर है, तो यह समझा जाता है कि वह बहुत बक-बक करने वाला, वाचाल है। यदि पास रहता है तो कहा जाता है कि वह बहुत ढीठ, मुंह लगा है। यदि दूर रहता है तो कहते है कि वह होशियार नही है। यदि क्षमाशील है और सब सहन कर लेता है तो यह समझा जाता है कि वह डरपोक है। यदि नही सहता और कुडमुडाता है, तो मालिक समझता है कि वह अच्छे कुल का नही है, दूसरे के साथ कैसे बरतना चाहिये उसको नही मालूम। इस प्रकार सेवा करना एक ऐसा गहन धर्म है कि जिसका पार योगी लोग भी नही पा सकते, तो साधारण मनुष्य की क्या बात है ?

२३४

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छता-
च्छीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना ।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोस्तु नः केवलं
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ॥

भावार्थ :—इस श्लोक मे किसी कृपण धनी का चित्र खीचा गया है—जाति रसातल को चली जाय तो चली जाय,

कोई परवाह नहीं ! जितने भी गुण हैं वे सब पाताल से भी नीचे चले जाय, कोई चिन्ता नहीं ! शील और सदाचार पहाड़ पर से गिरे और चकनाचूर हो जाय, हमें मजूर है ! कुटुम्ब का कुटुम्ब आग में जल मरे, स्वीकार है ! वीरता जो हमारी शत्रु है, उस पर राम करे वज्र गिरे ! हमें तो केवल धन चाहिए, जिस एक के बिना ये सारे गुण तिनके के समान हैं।

२३५

हे दारिद्र्य नमस्तुभ्यं सिद्धोऽहं त्वत्प्रसादतः ।
पश्याम्यहं जगत्सर्वं न मां पश्यति कश्चन ॥

भावार्थः—हे दरिद्रते ! मैं तुमको नमस्कार करता हूँ, क्योंकि मैं तुम्हारी कृपा से सिद्ध हो गया हूँ। सिद्धि मुझे यह मिल गयी है कि मैं सबको देखता हूँ, पर मुझे कोई नहीं देखता—मेरी ओर किसी की नजर भी नहीं जाता।

२३६

दारिद्र्य शोचामि भवन्तमेवमस्मच्छरीरे सुहृदित्युषित्वा ।
विपन्नदेहे मयि मन्दभाग्ये ममेति चिन्ता क्व गमिष्य-
सि त्वम् ॥

भावार्थः—एक अभागा दरिद्र मनुष्य अपनी दरिद्रता को सम्बोधन करके कहता है—"हे दरिद्रते ! मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, चिन्ता तुम्हारे लिए है कि इतने दिनों तक मित्र की तरह मेरे शरीर में निवास करके, मुझ अभागे के मरने के बाद तुम कहाँ जाओगी ? ऐसा रहने का स्थान तुम्हें कहाँ मिलेगा ?

२३७

एकः स एव जीवति हृदयविहीनोऽपि सहृदयो राहुः।
यः सकललघिमकारणमुदरं न बिभर्त्ति दुष्पूरम् ॥

भावार्थ —राहु के केवल शिर है, पेट नही है। इस पर कवि कहता है—हृदय से रहित होने पर भी, सहृदय राहु केवल अकेला ऐसा जीव है, जो वास्तव मे जीता है। क्योंकि उसे उस पेट को नही भरना पडता, जिस पेट के कारण मनुष्य को कितना अपमान और कितना अनादर सहना पडता है और तब भी वह कितनी कठिनाई से भरा जाता है।

२३८

इयमुदरदरी दुरन्तपूरा यदि न भवेदभिमान-
भंगभूमिः।
क्षणमपि न सहे भवादृशानां कुटिलकटाक्षनिरीक्षणं
नृपाणाम् ॥

भावार्थ —कोई निर्धन कवि किसी राजा या धनी से कहता है—सारे स्वाभिमान की जड को उखाड कर फेंक देने वाला और मान का मर्दन करने वाला, यह पेट रूपी गड्ढा, जिसका पाटना असभव है, यदि मेरे न होता तो क्या मे आप-जैसे राजाओ और श्रीमन्तो के नेत्र के कुटिल कटाक्ष को कभी सहन करता ?

२३९

नवीनदीनभावस्य याचकस्यातिमानिनः ।
वचोजीवितयोरासीत् पुरो निःसरणे रणः ॥

भावार्थ :—कोई आत्माभिमानी दीन मनुष्य किसी धनी के पास कुछ माँगने के लिए गया। उसने कभी पहले किसी से माँगा नही था। माँगने के लिए चला तो गया, पर माँगने का साहस न हुआ, चुप खड़ा रहा, मुख से दीनता के शब्द नही निकले। इस पर कवि की कल्पना है कि उसके वचन और प्राण मे द्वन्द्व युद्ध ठन गया कि पहले कौन निकले—वचन या प्राण। बस इसी द्वन्द्व मे वह चुप रह गया। किसी से माँगने की अपेक्षा मर जाना अच्छा है, इस बात को कवि ने कैसे अनोखे ढग से कहा है।

२४०

तृणादपि लघुस्तूलस्तूलादपि हि याचकः ।
वायुना किं न नीतोऽसौ प्रार्थयिष्यति मामिति ॥

भावार्थ :—तिनके से भी हलकी रुई है और रुई से भी हलका याचक (माँगने वाला) है। परन्तु यदि इतना हलका है, तो फिर हवा उसको क्यों नही अपने साथ उडा ले जाती ? इस लिए कि हवा भी डरती है कि कही मुझसे भी कुछ माँग न ले।

२४१

याचना हि पुरुषस्य महत्त्वं
नाशयत्यखिलमेव तथा हि ।

सद्य एव भगवानपि विष्णु
र्वामनो भवति याचितुमिच्छन् ॥

भावार्थः—माँगने से मनुष्य की सब प्रतिष्ठा भग हो जाती है, यह भगवान् विष्णु के उदाहरण से भी प्रगट है। देखो भगवान् विष्णु ने राजा बलि से माँगना चाहा, तो उनको भी छोटा (बौना) होना पडा। माँगने से हरेक को छोटा होना पडता है। इसी भाव का रहीम का यह दोहा भी है—

रहिमन याचकता गहे, बडो छोट ह्वं जात।
नारायण हू को भयो, बामन आंगुर गात॥

२४२

यदि रामा यदि च रमा यदि तनय विनयगुणोपेतः।
यदि तनये तनयोत्पत्तिः सुरवरनगरे किमाधिक्यम् ॥

भावार्थ :—इस श्लोक मे सब प्रकार से सफल सन्तुष्ट गृहस्थ का चित्र खीचा है—यदि सुशीला पतिपरायणा पत्नी हो, उस पर लक्ष्मी भी हो, उस पर नम्र, आज्ञाकारी और विनयी पुत्र हो, उस पर पुत्र के पुत्र (पोता) हो जाय, तो बताओ स्वर्ग मे क्या इससे कुछ अधिक सुख रक्खा है ?

२४३

कालिदास-कविता नवं वयो माहिषं दधि सशर्करं पयः।
शारदेन्दुवदना विलासिनी प्राप्यते सुकृतिनैव भूतले ॥

भावार्थः—कालिदास की कविता पढने को मिले, नई जवानी हो, भैंस के दूध की दही खाने को और चीनी मिला हुआ दूध पीने को मिले, शरत्काल के पूर्ण चन्द्रमा के समान मुख वाली सुन्दर पत्नी हो—यह सब सुख संसार मे केवल सुकृती भाग्यवान् मनुष्य को ही मिलता है ।

सज्जन और दुर्जन

२४४

हृदयानि सतामेव कठिनानीति मे मतिः ।
खलवाग्विशिखैस्तीक्ष्णैर्भिद्यन्ते न मनागतः ।।

भावार्थः—लोग कहते हैं, कि खलो का हृदय कठोर होता है । पर मेरा तो ऐसा विचार है कि खलो का हृदय नही, बल्कि सज्जनो का हृदय कठोर होता है । यदि सज्जनो का हृदय कठोर न होता, तो वह खलो के वचन बाणो से छिद क्यों नही जाता । छिदना तो दूर रहा उसमें रेखा-मात्र भी नही लगती । इस श्लोक का भाव कुछ-कुछ तुलसीदास के इस दोहे से मिलता है—

दुर्जन-वदन कमान सम, वचन विमुंचत तीर ।
सज्जन उर वेधत नही, क्षमा-सनाह शरीर ।।

२४५

लोको भद्युगजन्मा कृतकृतकर्मा न मद्धर्मा ।
इति हेतोरिव कलिना बलिना संपीड्यते साधु ।।

भावार्थः—इस कलि काल मे सज्जन क्यो दु ख पाते है इस का कारण किसी ने अच्छा दिया है—"सज्जन लोग पैदा तो हुए है मेरे युग मे और काम करते हैं सत्ययुग का । मेरे युग के अनुसार

आचरण नहीं करते"—बस इसी कारण क्रोध में आकर महाबली कलि साधु पुरुषों को सदा सताया करता है।

२४६

अमरैरमृतं न पीतमब्धेर्न न च हालाहलमुल्वणं हरेण।
विधिना निहितं खलस्य वाचि द्वयमेतद्बहिरेक-
मन्तरन्यत् ॥

भावार्थः—ऐसा कहा जाता है कि समुद्र-मन्थन से निकला हुआ अमृत देवताओं ने और भयंकर हलाहल (विष) भगवान् शिव ने पी लिया था। परन्तु यह ठीक नहीं है। असली बात तो यह है कि ब्रह्मा ने दोनों में से एक अर्थात् अमृत को तो दुर्जन की वाणी में रख दिया और हलाहल को उनके हृदय में रख दिया। इसी से तो वे ऊपर से मीठी-मीठी चिकनी-चुपड़ी बातें कहते हैं, पर हृदय में उनके विष भरा रहता है।

२४७

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट
केनेत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥

भावार्थः—खलों के वाग्बाणों से सताया गया कोई कवि कालकूट विष को सम्बोधन करके कहता है—हे कालकूट, एक दूसरे के उपरान्त उत्तम से उत्तम अपना आश्रय स्थान चुनने की

शिक्षा तुमने किस से पायी है ? पहले तुम खारे समुद्र के भीतर रहे, फिर नीलकण्ठ महादेव के कण्ठ में बसने लगे और अब तुम खलो की वाणी में निवास करते हो। तुम्हारी अद्भुत माया है।

२४८

अहमेव गुरुः सुदारुणानां
इति हालाहल तात मास्मदृप्यः ।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो
भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम् ॥

भावार्थः—हे हलाहल (विष), मत घमण्ड करो कि मैं ही जितने कटु और पीडा देने वाले पदार्थ दुनिया मे है, उन सबो मे श्रेष्ठ हूँ, मेरे बराबर कोई नही है। अरे! तुझे नही मालूम कि तेरे समान इस ससार मे दुर्जनो के वचन भी है, जिनके लगते ही मनुष्य एक बार प्राण रहने भी निष्प्राण हो जाता है। इसी भाव का एक उर्दू शेर भी है—

छुरी का तीर का तलवार का तो घाव भरा।
लगा जो जख्म जुबा का रहा हमेशा हरा॥

२४९

परदारपरद्रव्यपरद्रोह - पराङ्मुख. ।
गंगा ब्रूते कदागत्य मामयं पावयिष्यति ॥

भावार्थः—जो दूसरे की स्त्री, दूसरे के धन और दूसरे के

द्रोह से विमुख रहता है, उनकी ओर ताकता भी नही—ऐसे मनुष्य के बारे मे स्वय पतित-पावनी गगा जी भी कहती हैं कि यह कब आयेगा, मेरे मे स्नान करेगा और मुझे पवित्र करेगा।

२५०

विकृतिं नैव गच्छन्ति संगदोषेण साधवः।
प्रवेष्टितं महासर्पैश्चन्दनं न विषायते॥

भावार्थः—सज्जन लोग दुर्जनो के साथ से अपनी स्वाभाविक उत्तम प्रकृति को नही छोडते। देखो, चन्दन के वृक्ष पर कितने ही सर्प क्यो न लिपटे रहे, किन्तु उस पर विष का जरा भी प्रभाव नही पडता। इसी श्लोक के भाव को लेकर ही रहीम का यह दोहा है—

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसग।
चन्दन विष व्यापै नही, लपटे रहत भुजग॥

२५१

दुर्वृत्तसंगतिरनर्थपरंपरायाः
हेतुः सतां भवति किं वचनीयमत्र।
लंकेश्वरो हरति दाशरथे कलत्रं
प्राप्नोति बन्धनमसौ किल सिन्धुराजः॥

भावार्थः—दुर्जन और दुराचारी का साथ करने से सज्जनो को कितना अनर्थ और कितनी विपत्ति सहनी पडती है—यह

एक सर्व-प्रसिद्ध बात है। देखो, राम की स्त्री को हरा तो लंकाधिपति रावण ने, पर बन्धना पड़ा समुद्र को, जो रावण के पड़ोस में बसता था। प्रसिद्ध है कि लंका तक पहुँचने के लिए, राम को समुद्र पर पुल बांधना पड़ा था। इसी श्लोक के भाव को रहीम ने अपने पद्य में इस प्रकार प्रकट किया है—

करि कुसंग चाहत कुसल, यह रहीम जिय सोस।
महिमा घटी समुद्र की, रावन बसो परोस॥

२५२

शरदि न वर्षति, गर्जति वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः।
नीचो वदति न कुरुते, न वदति सुजनः करोत्येव॥

भावार्थः—शरत्काल में मेघ गर्जते खूब हैं, पर बरसते एक बून्द भी नहीं। वर्षा काल में मेघ गर्जते कम हैं, पर बरसते अधिक हैं। इसी प्रकार नीच लोग कहते बहुत हैं, पर करते कुछ भी नहीं। परन्तु अच्छे, सज्जन लोग बोलते कम हैं, जो कुछ करना होता है, कर देते हैं।

२५३

बोधितोऽपि बहुसूक्तिविस्तरैः
किं खलो जगति सज्जनो भवेत्।
स्नापितोऽपि बहुशो नदीजलै-
र्गर्दभः किमु हयो भवेत्क्वचित्॥

भावार्थः—बहुत-सी सुन्दर और उपदेशमयी वाणी से

समझाया गया दुर्जन, ससार मे क्या सज्जन हो सकता है? गगा-जैसी पवित्र नदी के पानी से बार-बार नहलाया गया गर्दभ, कभी घोडा हो सकता है क्या?

२५४

परवादे दशवदनः पररन्ध्रनिरीक्षणे सहस्राक्षः ।
सद्वृत्तवित्तहरणे बाहुसहस्रार्जुनः पिशुनः ॥

भावार्थः—नीच, दुर्जन मनुष्य दूसरे की निन्दा करने मे दशमुख वाला रावण हो जाता है, दूसरे का छिद्र देखने मे सहस्र-नेत्र वाला इन्द्र हो जाता है और दूसरे के चरित्ररूपी धन को हरने मे सहस्रबाहु अर्जुन हो जाता है।

२५५

दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत् ।
उष्णो दहति चांगारः शीतः कृष्णायते करम् ॥

भावार्थः—दुर्जन के साथ मित्रता अथवा प्रीति नही करनी चाहिए। दुर्जन अगार के समान होता है, जो उष्ण (गरम) होने पर जला देता है और शीतल (ठण्डा) होने पर हाथ को काला कर देता है। रहीम ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—

खोटे को सग साथ, हे मन तजो अगार ज्यो ।
तातो जारे हाथ, सीतलहू कारो करै ॥

२५६

दृश्यन्ते भुवि भूरिनिम्बतरवः कुत्रापि ते चन्दनाः
पाषाणैः परिपूरिता वसुमती वज्रो मणिर्दुर्लभः ।
श्रूयन्ते करटारवाश्च सततं चैत्रे कुहूकूजितं
तन्मन्ये खलसंकुलं जगदिदं द्वित्राः क्षितौ सज्जनाः ॥

भावार्थः—संसार मे नीम के पेड़ तो बहुत से दिखाई पड़ते हैं, परन्तु चन्दन के पेड़ तो कहीं-कहीं ही पाए जाते हैं। पृथ्वी पत्थरों से भरी हुई है, परन्तु बहुमूल्य पत्थर हीरा आदि तो कठिनाई से मिलते है। कौवो की कॉव-कॉव तो सदा सुनाई पड़ती है, परन्तु कोयल की कूक तो केवल चैत में ही सुनने को मिलती है। इसी प्रकार संसार दुर्जनों से भरा पड़ा है, परन्तु सज्जन तो पृथ्वी में दो-चार ही कहीं-कहीं दिखाई पड़ते हैं।

२५७

घृष्टं घृष्टं पुनरपि पुनश्चन्दनं चारुगन्धं
छिन्नश्छिन्नः पुनरपि पुनः स्वादु चैवेक्षुदण्डः ।
तप्तं तप्तं पुनरपि पुनः कांचनं कान्तवर्णं
प्राणान्तेऽपि प्रकृतिविकृतिर्जायते नोत्तमानाम् ॥

भावार्थः—चन्दन बार-बार घिसे जाने पर भी, अपनी सुगन्ध नहीं छोड़ता। गन्ना बार-बार चूसे जाने पर भी, अपनी मिठास नहीं त्यागता। सोना बार-बार तपाये जाने पर भी, अपनी सुन्दर

चमक को नहीं तजता। सच है, उत्तमपुरुष प्राणों के जाने पर भी, अपना उत्तम स्वभाव नहीं छोड़ते।

२५८

कस्यादेशात्क्षपयति तमः सप्तसप्तिः प्रजानां
छायाहेतोः पथि विटपिनामंजलिः केन बद्धः।
अभ्यर्थ्यन्ते जललवमुचः केन वा वृष्टिहेतो-
र्जात्यैवैते परहितविधौ साधवो बद्धकक्ष्याः ॥

भावार्थः—सूर्य किसके आदेश से लोगों के लिए उदय होकर, अन्धकार का नाश करता है? कौन पथिकों को छाया देने के लिए, पेड़ों से हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है? कौन वर्षा देने के लिए, मेघों से याचना करता है। यह वे स्वयं करते हैं। क्योंकि सज्जनों का स्वभाव ही परोपकार करना है और उस के लिए वे सदा कमर कसे तैयार रहते हैं।

२५९

उदयति यदि भानुः पश्चिमे दिग्विभागे
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः।
विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां
न भवति पुनरुक्तं भाषितं सज्जनानाम् ॥

भावार्थः—सूर्य पश्चिम दिशा में उदय हो सकता है, मेरु

पर्वत अपने स्थान से हट सकता है, अग्नि अपना स्वभाव छोड़ कर शीतत्व ग्रहण कर सकती है, कमल पर्वत की शिला पर खिल सकता है—किन्तु सज्जन लोग अपनी बात से नहीं डिगते। जो वे एक बार कह देते हैं, वह पत्थर की लकीर बन जाता है।

पौरुष और भाग्य

२६०

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ।।

भावार्थः—जिस प्रकार रथ के दो पहिए होते हैं, वह केवल एक पहिए से नही चलता। उसी प्रकार सफलता के लिए पौरुष और भाग्य दोनो आवश्यक होते हैं, बिना पौरुष के भाग्य कभी सिद्ध नही होता।

२६१

दैवं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम् ।
समुद्रमथनाल्लेभे हरिर्लक्ष्मीं हरो विषम् ।।

भावार्थः—भाग्य ही सर्वत्र फल देता है, विद्या और पौरुष नही। देखो, यह भाग्य का ही खेल था कि समुद्रमन्थन से एक ओर विष्णु को लक्ष्मी प्राप्त हुई और दूसरी ओर महादेव के पल्ले केवल विष ही पड़ा।

२६२

भाग्यवन्तं प्रसूयेथा मा शूरं मा च पण्डितम् ।
शूराश्च कृतविद्याश्च वने सीदन्ति पाण्डवाः ।।

भावार्थः—कोई किसी स्त्री को आशीर्वाद देता है कि तू भाग्यवान् पुत्र को पैदा कर, शूरवीर और पण्डित को नहीं। देखो, पाण्डव लोग कितने शूरवीर और कितने विद्वान् थे, पर भाग्य ने साथ नहीं दिया, इसलिए वनवास मे तरह-तरह के दुख झेलते रहे।

२६३

एकः स एव तेजस्वी सैंहिकेयोऽसुरद्विपाम्।
शिरोमात्रावशेषेण जीयन्ते येन शत्रवः॥

भावार्थः—दैत्यो मे राहु अकेला ही ऐसा तेजस्वी पौरुषवान् है, जो अपने पौरुष के बल पर, केवल शिरमात्र शेष रहने पर भी, अपने शत्रुओ को जीतता रहता है और देवताओ के दान्त खट्टे करता रहता है।

२६४

अंगणवेदी वसुधा कुल्या जलधिः स्थली च पातालम्।
वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य धीरस्य॥

भावार्थः—जो धीरज को नही छोड़ता और अपने दृढ निश्चय पर डटा रहता है, उसके लिए विस्तृत पृथ्वी घर के आगन के समान, अपार सागर छोटी-सी नदी के समान और पाताल स्थली के समान हो जाता है। वह बड़ी से बड़ी कठिनाइयो को सहज मे पार कर लेता है।

२६५

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः ॥

भावार्थः—सिंह बच्चा भी हो, तो भी मद के चूने से जिनके गण्डस्थल मलिन हो गये हैं, ऐसे मतवाले हाथियों पर आक्रमण कर, उन्हे पछाड़ देता है। पराक्रमी लोगों का यह स्वभाव होता है। तेज और पराक्रम के लिए आयु कारण नहीं है।

२६६

भर्तो यस्य धनेशः सिद्धे ऋद्धेश्च यत्सुतोऽधिपतिः।
तस्य कुमारोऽनूढ़ः स्वयं च नग्नो नमो विधये ॥

भावार्थः—जिन महादेव जी के भक्त धन के स्वामी साक्षात् कुबेर हैं, जिनके एक पुत्र गणेश जी ऋद्धि और सिद्धि दोनों के अधिपति हैं—उन्हीं महादेव जी का एक पुत्र स्वामि-कार्त्तिकेय सदा के लिए कुँवारा रह गया और स्वयं महादेव जी भी नग्न रहे, लंगोटी भी पास नहीं थी—यह केवल भाग्य का ही खेल है। अतएव भाग्य को नमस्कार है!

२६७

भूयिष्ठं द्रविणात्मजं जनयितुं लिप्सावता चेतसा
नार्यः पंच मया क्रमेण कुलजाः काले समुद्वाहिताः ।

सद्विद्या कविता विदेशवसतिः सेवा तथाऽभ्यर्थना
दैवेन प्रतिबन्धकेन युगपद्वन्ध्याः समस्ताः कृताः ॥

भावार्थः—इस लालसा से कि मेरे धनरूपी पुत्र उत्पन्न हो, मैंने एक के बाद दूसरी, इस क्रम से पाँच कुलीन स्त्रियों के साथ विवाह किया, जो ये हैं—एक विद्या, दूसरी कविता, तीसरी विदेश में वसति (निवास), चौथी सेवा और पाँचवी धनिकों के सामने प्रार्थना (हाथ फैलाना)। परन्तु दैव का दुर्विपाक तो देखो—ये पाँचों ही वन्ध्या निकलीं और इनमें से एक ने भी धन-रूपी पुत्र मुझे नहीं दिया। मेरी विद्या, कविता, विदेश में दर-दर फिरना, सेवा और धनियों की चापलूसी, सब बेकार हुई।

२६८

अवश्यं भाविनो भावा भवन्ति महतामपि ।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः ॥

भावार्थः—भाग्य में जो बदा होता है, वह बड़े से बड़े लोगों को भी मिलता है। देखो, महादेव जी के भाग्य में नंगा होना बदा था, सो इतने बड़े देवता होकर भी उन्हें नंगा रहना पड़ा और विष्णु भगवान् के भाग्य में महा विषैले सर्प पर सोना लिखा था, सो उनको शेषनाग पर ही शयन करना पड़ा। भाग्य का विचित्र खेल है!

२६९

स्वयं महेशः श्वशुरो नगेशः सखा धनेशस्तनयो गणेशः ।
तथापि भिक्षाटनमेव शंभोर्बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा ॥

भावार्थः—महादेव जी स्वय महेश (बडो के भी बडे) हैं, उनके ससुर नगेश (पर्वतो के राजा हिमालय) है, उनके मित्र धनेश (धन के मालिक कुबेर) हैं, उनके पुत्र गणो के ईश "गणेश" जो हैं—इतने पर भी उनको भीख माँग कर अपना गुजारा करना पडा, यह केवल विधि की विडम्बना के सिवा और क्या कहा जाय ?

२७०

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः सन्तापितो मस्तके
वाञ्छन्देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः ।
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दो शिरः
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रापदां भाजनम् ॥

भावार्थः—कोई गंजा मनुष्य दोपहर की गर्मी मे सूर्य की खरतर किरणो से सताया हुआ, छाया की खोज मे, दुर्भाग्य से एक ताड के पेड के नीचे गया कि वहाँ कुछ देर दारण लेकर, अपनी खोपडी को घाम मे तपने से बचाऊँगा । परन्तु जैसे ही वहाँ पहुँचा कि एक बडा ताड का फल उसके सिर पर धडाम से आकर गिरा और उसकी गंजी खोपडी चूर-चूर हो गयी ।

सच है, अभागा मनुष्य जहाँ जाता है, वहाँ विपत्ति सच्चे साथी की तरह उसका साथ नहीं छोडती।

२७१

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं
नोलूकेन विलोक्यते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्।
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं
यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः॥

भावार्थ.—वसन्त के आगमन पर भी, यदि करील के वृक्ष मे पत्ते न आवें, तो इसमे वसन्त का क्या दोष है ? सूर्योदय होने पर भी, यदि दिन मे उल्लू को दिखाई न पडे, तो इसमे सूर्य का क्या दोष है ? वर्षा होने पर भी, यदि चातक के मुख मे एक बूंद भी न टपके, तो इसमे मेघ का क्या दोष है ? बात यह है कि विधाता ने किसी के भाग्य मे जो लिख दिया है, उसको कोई टाल नही सकता। भाग्य का लेख अमिट है।

२७२

सदसि विदुरभीष्मद्रोणशारद्वतानां
पतिभिरमरकल्पैः पंचभिः पालितापि।
अहह परिभवस्य द्रौपदी पात्रमासीद्
बलवति सति दैवे बन्धुभिः किं विधेयम्॥

भावार्थ —जिस सभा मे विदुर, भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य,

कृपाचार्य जैसे न्यायपरायण, धर्मिष्ट बैठे थे, उसी सभा मे देवताओ के तुल्य पाँच पति जिसके पालक और रक्षक थे, ऐसी द्रौपदी का कितना घोर अपमान हुआ यह सर्व-विदित है। सच है, जब विधि विपरीत होता है, तो बन्धु और मित्र भी कुछ नही कर सकते।

२७३

ऐसा कहते हैं कि एक बार महाराज भोज के दरबार मे, चार कवि धन की लालसा से गये। भोज ने चारो को एक समस्या पूर्त्ति के लिए दी और कहा कि जिसकी समस्या-पूर्त्ति सर्वोत्तम होगी, उसी को एक लाख रुपया इनाम के तौर पर दिया जायगा। समस्या यह थी—"क्रिया-सिद्धि सत्वे वसति महता नोपकरणे"

(१) उनमे से एक ने समस्या की पूर्ति इस प्रकार की—

विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधि-
र्विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।
तथाप्येको रामः सकलमवधीद्राक्षसकुलं
क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे॥

भावार्थ—एक तो समुद्र के पार जाकर लका को जीतना था, दूसरे समुद्र को पार करने के लिए कोई पुल भी नही था, केवल पैर से ही उसे पार करना था। वहाँ रावण-जैसा शूरवीर और बली शत्रु था, जिससे युद्ध करना था और युद्ध मे सहायक केवल बन्दर लोग थे। तथापि इन सब कठिनाइयो के

२७५

(३) तीसरे कवि ने समस्या की पूर्ति अगस्त्य मुनि का उदाहरण देकर की—

घटो जन्मस्थानं मृगपरिजनो भूर्जवसनं
वने वासः कन्दाशनमपि च दुःस्थं वपुरिदम् ।
तथाप्येकोऽगस्त्यः सकलमपिबद्वारिधिजलं
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥

भावार्थः—अगस्त्य ऋषि पैदा हुए थे घडे मे, कोई ऊँचे कुल के भी नही थे । मृग उनके परिजन थे । भोजपत्र उनका वसन था । वन मे उनका निवास था । कन्द मूल उनका आहार था । ऐसे सकट मे पला उनका दुर्बल शरीर था । तथापि वह अकेले सारे समुद्र का जल पी गये । इससे सिद्ध होता है कि महान् पुरुषो के कार्यों की सिद्धि बाहरी साधनो पर नही, वरन अपने आन्तरिक बल और पौरुष पर अवलम्बित होती है ।

२७६

(४) चौथे कवि ने कामदेव का उदाहरण देकर समस्या पूर्ति की—

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी चंचलदृशां
दृशां कोणो बाणः सुहृदपि जड़ात्मा हिमकरः ।
तथाप्येकोऽनंगस्त्रिभुवनमपि व्याकुलयति
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥

भावार्थः—कामदेव को देखो। उसका धनुष पुष्पों का
हुआ है। उस धनुष की प्रत्यंचा भ्रमरों की है। उसके
चंचल नेत्र वाली कामिनियों के कटाक्ष है। उसका मित्र
सहयोगी जड़ात्मा चन्द्रमा है। फिर भी वह अंगहीन,
कामदेव तीनों लोकों को व्याकुल किये रहता है। तो सिद्ध हुआ
कि बड़े और महान् पुरुषों के कार्य की सफलता बाहरी साधनों
पर नहीं, वरन उनके साहस और पौरुष पर आधारित होती
है।

२७७

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित्किंचिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

भावार्थः—जब मैंने थोड़ा जाना, तो मतवाले हाथी की तरह मदान्ध हो कर, यह समझने लगा कि मैं सर्वज्ञ हूँ और मेरा मन अभिमान से भरकर मदमत्त हो गया। परन्तु आगे चलकर, जब मैं बुधजनों से थोड़ा-थोड़ा जानने लगा और अपनी मूर्खता का वास्तविक ज्ञान मुझे हुआ, तब मैंने समझा कि मैं तो महा-मूर्ख हूँ और मेरा अभिमान उसी तरह उतर गया जिस तरह कि ज्वर से पीड़ित मनुष्य का ज्वर उपचार से उतर जाता है। इसी भाव का एक उर्दू शेर भी है—

मैंने जाना था कि इल्म से कुछ जानेंगे।
जाना तो यह जाना कि न जाना कुछ भी।

एक अंग्रेजी कविता भी इसी भाव की है—

A little learning is a dangerous thing;
Drink deep or taste not the Pierian spring;
Their shallow draughts intoxicate the brain,

होते हुए भी, अकेले राम ने अपने पौरुष के बल पर, सम्पूर्ण राक्षस-कुल का विनाश किया। इससे सिद्ध हुआ कि महान् पुरुषो की क्रिया की सिद्धि बाहरी साधनो पर नही, वरन उनके अपने निजी पौरुष पर निर्भर होती है।

२७४

(२) दूसरे कवि ने समस्या की पूर्ति इस प्रकार की—

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगाः
निरालबो मार्गश्चरणरहितः सारथिरपि।
रविर्गच्छत्यन्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे॥

भावार्थः—सूर्य ऐसे रथ पर सवार है, जो केवल एक पहिये पर चलता है। उसमे सात घोडे जुते हुए हैं और उन घोडो को काबू मे रखने के लिए जो लगाम है, वह भयानक विषैले सर्पो की बनी हुई है। रथ भी जिस मार्ग पर चलता है, वह शून्य आकाश मे है, जिसका कोई अवलम्ब नही है। अरुण जो उसका सारथि है, वह बिना चरण के है। तो भी, इन सब कठिनाइयो के होते हुए, सूर्य प्रतिदिन अनन्त आकाश के इस पार से उस पार तक चक्कर लगाता रहता है। तो सिद्ध हुआ कि महान् पुरुषो के कार्य की सिद्धि बाहरी साधनो पर नही, बल्कि उनके अपने आन्तरिक साहस और बल पर निर्भर होती है।

२७५

(३) तीसरे कवि ने समस्या की पूर्ति अगस्त्य मुनि का उदाहरण देकर की—

घटो जन्मस्थानं मृगपरिजनो भूर्जवसनं
वने वासः कन्दाशनमपि च दुःस्थं वपुरिदम् ।
तथाप्येकोऽगस्त्यः सकलमपिबद्वारिधिजलं
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥

भावार्थः—अगस्त्य ऋषि पैदा हुए थे घड़े में, कोई ऊँचे कुल के भी नहीं थे। मृग उनके परिजन थे। भोजपत्र उनका वसन था। वन में उनका निवास था। कन्द मूल उनका आहार था। ऐसे संकट में पला उनका दुर्बल शरीर था। तथापि वह अकेले सारे समुद्र का जल पी गये। इससे सिद्ध होता है कि महान् पुरुषों के कार्यों की सिद्धि बाहरी साधनों पर नहीं, वरन अपने आन्तरिक बल और पौरुष पर अवलम्बित होती है।

२७६

(४) चौथे कवि ने कामदेव का उदाहरण देकर समस्या पूर्ति की—

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी चंचलदृशां
दृशां कोणो बाणः सुहृदपि जड़ात्मा हिमकरः ।
तथाप्येकोऽनंगस्त्रिभुवनमपि व्याकुलयति
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥

होते हुए भी, अकेले राम ने अपने पौरुष के बल पर, सम्पूर्ण राक्षस-कुल का विनाश किया। इससे सिद्ध हुआ कि महान् पुरुषों की क्रिया की सिद्धि बाहरी साधनों पर नहीं, वरन उनके अपने निजी पौरुष पर निर्भर होती है।

२७४

(२) दूसरे कवि ने समस्या की पूर्ति इस प्रकार की—

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगाः
निरालम्बो मार्गश्चरणरहितः सारथिरपि ।
रविर्गच्छत्यन्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥

भावार्थ —सूर्य ऐसे रथ पर सवार है, जो केवल एक पहिये पर चलता है। उसमे सात घोडे जुते हुए हैं और उन घोडो को काबू मे रखने के लिए जो लगाम है, वह भयानक विषैले सर्पो की बनी हुई है। रथ भी जिस मार्ग पर चलता है, वह शून्य आकाश मे है, जिसका कोई अवलम्ब नही है। अरुण जो उसका सारथि है, वह बिना चरण के है। तो भी, इन सब कठिनाइयो के होते हुए, सूर्य प्रतिदिन अनन्त आकाश के इस पार से उस पार तक चक्कर लगाता रहता है। तो सिद्ध हुआ कि महान् पुरुषो के कार्य की सिद्धि बाहरी साधनो पर नही, बल्कि उनके अपने आन्तरिक साहस और बल पर निर्भर होती है।

२७५

(३) तीसरे कवि ने समस्या की पूर्ति अगस्त्य मुनि का उदाहरण देकर की—

घटो जन्मस्थानं मृगपरिजनो भूर्जवसनं
वने वासः कन्दाशनमपि च दुःस्थं वपुरिदम् ।
तथाप्येकोऽगस्त्यः सकलमपिवद्वारिधिजलं
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥

भावार्थः—अगस्त्य ऋषि पैदा हुए थे घडे मे, कोई ऊँचे कुल के भी नही थे। मृग उनके परिजन थे। भोजपत्र उनका वसन था। वन मे उनका निवास था। कन्द मूल उनका आहार था। ऐसे सकट मे पला उनका दुर्बल शरीर था। तथापि वह अकेले सारे समुद्र का जल पी गये। इससे सिद्ध होता है कि महान् पुरुषो के कार्यों की सिद्धि बाहरी साधनो पर नही, वरन अपने आन्तरिक बल और पौरुष पर अवलम्बित होती है।

२७६

(४) चौथे कवि ने कामदेव का उदाहरण देकर समस्या पूर्ति की—

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी चंचलदृशां
दृशां कोणो बाणः सुहृदपि जड़ात्मा हिमकरः ।
तथाप्येकोऽनंगस्त्रिभुवनमपि व्याकुलयति
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥

And drinking largely sobers us again.
—Pope

२७८

शिरःशार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुंगादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ।
अधोऽधो गंगेयं पदमुपगता स्तोकमधुना
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥

भावार्थः—गंगा पहले आकाश से महादेव जी के सिर पर गिरी, महादेव जी के सिर से हिमालय जैसे ऊँचे पर्वत पर गिरी, पर्वत से पृथ्वी पर गिरी, पृथ्वी से समुद्र मे गिरी—इस तरह लगातार गिरती ही गयी और अब वह एक छोटे-से प्रवाह के रूप मे बहने लगी। सच है, जो लोग विवेक से भ्रष्ट हो जाते हैं-जिनमे अच्छे-बुरे तथा छोटे-बडे का विवेक नही रह जाता-उनका सैंकडो प्रकार से पतन होने लगता है।

२७९

पौलस्त्यः कथमन्यदारहरणे दोषं न विज्ञातवान्
रामेणापि कथं न हेमहरिणस्यासंभवो लक्षितः ।
अक्षैश्चापि युधिष्ठिरेण सहसा प्राप्तो ह्यनर्थः कथं
प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते ॥

भावार्थ —रावण जैसा विद्वान् और नीतिनिपुण मनुष्य, पराई स्त्री का हरण करने मे कोई दोष न देख सका, राम

जैसे महापुरुष सोने का भी कही मृग होता है इस बात को न समझ सके तथा युधिष्ठिर जैसे धर्मराज जुए के कारण अनर्थ को प्राप्त हुए। सच है जब किसी के ऊपर विपत्ति आने को होती है तो उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। तुलसीदास ने भी कहा है—

"जाको प्रभु दारुण दुख देही।
ताकी मति पहले हर लेही॥"

२८०

सिंहक्षुण्णकरीन्द्रकुंभगलितं रक्ताक्तमुक्ताफलं
कान्तारे बदरीधिया द्रुतमगाद्भिल्लस्य पत्नी मुदा।
पाणिभ्यामवगुह्य शुक्लकठिनं तद्वीक्ष्य दूरे जहा-
वस्थाने पततामतीव महतामेतादृशी स्याद् गतिः॥

भावार्थः—वन मे किसी भिल्लिनी ने, सिंह के पैने नखो से विदारित हाथी के गण्डस्थल से, गिरे हुए तथा रुधिर से सने हुए लाल मोती को देखा और यह समझकर कि वह बेर का फल है, उसे हर्ष के मारे उठाने के लिए दौड़ी। परन्तु जब हाथ मे उसको लिया तो यह देखकर कि यह तो कोई सफेद और कड़ी वस्तु है, उसको दूर फेंक दिया। ठीक है, अयोग्य स्थान मे जब कोई महान् पुरुष आ पड़ता है, तो उसकी यही दुर्गति होती है।

२८१

तस्याग्निर्जलमर्णवः स्थलमरिर्मित्रं सुराः किंकराः
कान्तारं नगरं गिरिर्गृहमहिर्माल्यं मृगारिर्मृगः।

पातालं बिलमस्त्रमुत्पलदलं व्यालः शृगालो विषं
पीयूषं विषमं समं च वचनं यः सत्यमाभाषते ॥

भावार्थः—जो सदा सत्य का पालन और सत्य का भाषण करता है, उसके लिए आग शीतल जल के समान बन जाती है, समुद्र स्थल बन जाता है, शत्रु मित्र हो जाता है, देवता लोग सेवक बन जाते है, वन नगर बन जाता है, सर्प पुष्पों की माला बन जाता है, सिंह मृग के समान वश में हो जाता है, पाताल बिल बन जाता है, भयंकर अस्त्र कमल के समान कोमल हो जाता है, व्याल (मस्त हाथी) शृगाल (सियार) हो जाता है, विष अमृत हो जाता है और कठिन से कठिन वस्तु सरल हो जाती है। सत्य की अपार महिमा है!

२८२

अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्वर्त्तितं
स्थलेऽब्जमवरोपितं सुचिरमूषरे वर्षितम् ।
श्वपुच्छमवनामितं बधिरकर्णजापः कृतो
धृतोऽन्धमुखदर्पणो यदबुधो जनः सेवितः ॥

भावार्थः—मूर्ख मनुष्य की सेवा वैसे ही निरर्थक और निष्फल है, जैसे कि निर्जन वन में रोना, जहाँ कोई सुनने वाला नहीं, या मुर्दे के शरीर में उबटना लगाना, या स्थल में कमल के पौधे को बोना, या कुत्ते की पूछ को सीधी करने का प्रयत्न करना, या बहिरे के कान में कहना, या अन्धे के मुख के सामने दर्पण का रखना।

२८३

सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।
स्वातौ सागरशुक्तिकुक्षिपतितं तज्जायते मौक्तिकं
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संगात्सतो जायते ॥

भावार्थः—खूब गरम लोहे पर पडे हुए जिस जल का नाम भी नही रहता, वही जल कमल-पत्र पर मोती की तरह चमकता है। वही जल स्वाति नक्षत्र मे, समुद्र के अन्दर, सीप में पडकर मोती बन जाता है। अतएव सिद्ध हुआ कि संगति के अनुसार ही मनुष्य मे प्रायः नीच, मध्यम और उत्तम गुण उत्पन्न होते हैं।

२८४

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपांगणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥

भावार्थः—दिन के समय कुम्हलाया हुआ चन्द्रमा, जवानी चली जाने पर मुर्झायी हुई सुन्दरी स्त्री, कमल सूख जाने पर सूना सरोवर, निरक्षर मनुष्य का सुन्दर मुख, धन का लोभी मालिक, सदा दुर्गति मे पडा हुआ सज्जन, राजा के दरबार मे मॆंड़

मारने वाला दुष्ट मनुष्य—ये सात मन में काँटे की तरह खट-कते है।

२८५

किं कोकिलस्य विरुतेन गते वसन्ते
किं कातरस्य बहुशस्त्रपरिग्रहेरण।
मित्रेरण किं व्यसनकालपराङ्मुखेन
किं जीवितेन पुरुषस्य निरक्षरेरण॥

भावार्थः—वसन्त ऋतु बीत जाने पर कोयल की कूक से क्या लाभ? कायर मनुष्य को बहुत-से शस्त्रों से सुसज्जित कर देने से क्या लाभ? विपत्ति पड़ने पर साथ छोड़ देने वाले मित्र से क्या लाभ? मनुष्य निरक्षर होकर जिये, तो उससे क्या लाभ?

२८६

हंसो विभाति नलिनीदलपुंजमध्ये
सिंहो विभाति गिरिगह्वरकन्दरासु।
जात्यो विभाति तुरगो रणयुद्धमध्ये
विद्वान्विभाति पुरुषेषु विचक्षरोषु॥

भावार्थः—जिस प्रकार हंस कमलो के समूह के बीच में शोभा पाता है, सिंह पहाड़ की गहरी गुफाओ के बीच में शोभा पाता है, अच्छी नस्ल का वेग वाला घोड़ा रणभूमि मे शोभा

पाता है, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष पण्डितो के बीच मे ही शोभा पाता है।

२८७

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते
घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखाच्च यो याति नरो दरिद्रतां
धृतः शरीरेण मृतः स जीवति ॥

भावार्थः—दुःख अनुभव करने के बाद, यदि सुख मिलता है तो वह वैसा ही शोभा देता है, जैसे कि घनघोर अन्धकार के बाद, दीपक जल जाने पर, उज्ज्वल प्रकाश शोभा देता है। परन्तु सुख अनुभव करने के बाद, जो मनुष्य दरिद्रता को प्राप्त होता है, वह जीता तो है, परन्तु वैसे ही जैसे मृत मनुष्य शरीर धारण किये रहता है।

२८८

मर्कटस्य सुरापानं तस्य वृश्चिकदंशनम्।
तन्मध्ये भूतसंचारो यद्वा तद्वा भविष्यति ॥

भावार्थः—बन्दर को शराब पिला दी जाय और उसके ऊपर बीछी उसको डस ले और उसके ऊपर भी कोई प्रेत का वास उसके शरीर मे हो जाय, तो फिर उसका क्या कहना? जो न हो जाय सो थोडा है।

२८९

दिवा पश्यति नोलूकः काको नक्तं न पश्यति ।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवा नक्तं न पश्यति ।।

भावार्थः—उल्लू दिन को नही देखता और कौआ रात को नही देखता। परन्तु कामान्ध मनुष्य उन दोनों से भी अनोखा है, जो न दिन को देखता है और न रात को।

२९०

दन्तिदन्तसमानं हि निःसृतं महतां वचः ।
कूर्मग्रीवेव नीचानां पुनरायाति याति च ।।

भावार्थः—बड़े लोगों के वचन हाथी के दान्त के समान होते हैं—एक बार निकले तो निकले, फिर वापस नही जाते। परन्तु नीच लोगों के वचन कछुवे की गर्दन के समान बार-बार निकलते हैं और बार-बार वापस चले जाते हैं। नीच अपनी बात पर टिकते नही, किन्तु बड़े लोगों की बात पत्थर की लकीर होती है।

२९१

पतितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः ।
प्रायेण ही सुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः ।।

भावार्थः—गेन्द को कितना ही दबाओ और हाथ से कितनी ही बार गिराओ, किन्तु वह हर बार उछलकर ऊपर को चला

आता है। इसी प्रकार अच्छे चरित्र वाले पुरुषो को कितना ही दबाया जाय और कितनी ही विपत्तिया उनके ऊपर आ पडे, पर वे दब नही सकते, विपत्तियो को पार करके ऊपर उठ ही आते हैं।

२९२

कुसुमस्तबकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा ॥

भावार्थः—पुष्पो के गुच्छो के समान मनस्वी और स्वाभिमानी पुरुषो की दो गति होती है, या तो वे सब लोगो के सिर पर चढेंगे-सब लोगो से आदर पायेंगे अथवा एकान्त मे रहकर सूख जायेंगे-बिना झुके हुए अपना जीवन बिता देंगे। वृन्द कवि ने हिन्दी मे इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—

द्वै ही गति है बडन की, कुसुम मालती भाय।
कै सब के सिर पर रहे, कै बन माहि बिलाय ॥

२९३

राजा कुलवधूर्विप्रा मंत्रिणश्च पयोधराः।
स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ता. केशा नरा नखाः ॥

भावार्थ.—राजा, कुलीन स्त्री, ब्राह्मण, मत्री, स्तन, दान्त, केश, नख और योग्य व्यक्ति जब अपने स्थान से च्युत हो जाते है, तो शोभा नही देते। उनको शोभा तभी तक है, जब तक वे अपने उचित और योग्य स्थान पर बने रहते हैं।

२६४

सदयं हृदयं यस्य भाषितं सत्यभूषितम् ।
कायः परहितो यस्य कलिस्तस्य करोति किम् ॥

भावार्थ —जिसका हृदय दया से परिपूर्ण है, जिसकी वाणी सत्य से अलङ्कृत है, जिसका शरीर दूसरो के हित मे लगा हुआ है, ऐसे मनुष्य का कलियुग क्या बिगाड सकता है ?

२६५

व्यापारान्तरमुत्सृज्य वीक्षमाणो वधूमुखम् ।
यो गृहेष्वेव निद्राति दरिद्राति स दुर्मतिः ॥

भावार्थः—सब काम छोडकर जो केवल अपनी पत्नी का मुख देखता हुआ, घर मे पडा सोता रहता है, वह मूर्खमति निस्सन्देह सदा दरिद्र बना रहता है ।

२६६

लोको मद्युगजन्मा कृतकृतकर्मा न मद्धर्मा ।
इति रोषादिव कलिना बलिना संपीड्यते साधुः ॥

भावार्थः—इस कलियुग मे साधु सज्जन लोग क्यो दुखी रहते हैं, इसका कारण इस श्लोक मे सुनिये—"सज्जन लोग पैदा तो हुए हैं मेरे युग मे और काम करते हैं सत्ययुग का, मेरे धर्म का पालन नही करते"—इस कारण क्रोध मे आकर, कलियुग साधु सज्जन पुरुषों को सताया करता है ।

२६७

परदारपरद्रव्यपरद्रोहपराङ्मुखः ।
गंगा ब्रूते कदागत्य मामयं पावयिष्यति ॥

भावार्थः—गंगा जो स्वय सब पतितों को पवित्र करने वाली हैं, कहती है कि जो मनुष्य पराई स्त्री, पराया धन और पराये से द्रोह—इन तीनो से विमुख है, ऐसा मनुष्य कब आयेगा और मेरे में स्नान करके मुझे पवित्र करेगा। सदाचार की अद्भुत महिमा है !

२६८

विदुषां वदनाद्वाचः सहसा यान्ति नो बहिः ।
याताश्चेन्न परांचन्ति द्विरदानां रदा इव ॥

भावार्थः—विद्वान् और सज्जनो के मुख से कोई बात, बिना विचारे सहसा निकलती ही नही और यदि एक बार निकल गयी, तो उसको वह कभी वापस नही लेते, अपनी बात पर डटे रहते हैं। जिस तरह हाथी के दांत निकले तो निकले, फिर अन्दर नही जाते। इसी श्लोक का भाव लेकर हिन्दी का यह दोहा भी है—

रन सन्मुख पग सूर के, वचन कहे ते सन्त।
निकस न पाछे होत हैं, ज्यो गयन्द के दन्त॥

२६९

अन्यमुखे दुर्वादो यः प्रियवदने स एव परिहासः ।
इतरेन्धनजन्मा यो धूमः सोऽगुरुभवो धूपः ॥

भावार्थः—गोवर्धन-सप्तशती का यह श्लोक सच्चे प्रेम के बारे में है—जो बात दूसरों के मुंह से कही गयी गाली गिनी जायगी, वही बात यदि अपना प्रियतम कहे, तो केवल परिहास (हँसी मज़ाक) माना जायगा। सच है, सामान्य लकड़ी के जलने से जो धुँआ उठता है उसको तो "धूम" के नाम से पुकारा जाता है, वही यदि अगुरु के जलने से उठे, तो "धूप" कहलाता है। प्रेम का पन्थ निराला है!

३००

अकुले पतितो राजा मूर्खपुत्रोहि पण्डितः।
निर्धनस्य धनी पुत्रस्तृणवन्मन्यते जगत् ॥

भावार्थः—नीच कुल में उत्पन्न मनुष्य राजा हो जाय, मूर्ख मनुष्य का पुत्र पण्डित हो जाय, निर्धन पिता का पुत्र धनी हो जाय, तो उसके अभिमान का क्या ठिकाना? वह संसार को तिनके के समान मानने लगता है "प्यादे से फरजी भये कि तिरछे तिरछे जाय।"

३०१

अतिपरिचयादवज्ञा संततगमनादनादरो भवति।
लोकः प्रयागवासी कूपोदके स्नानमाचरति ॥

भावार्थः—अति परिचय होने से अवज्ञा हो जाती है और रोज-रोज किसी के घर जाने से आदर नहीं रह जाता। इसी कारण देखो, प्रयाग के रहने वाले लोग, जहाँ गंगा, यमुना जैसी

दो बडी नदियाँ बहती हैं, नदी मे स्नान न करके कुएँ के पानी से स्नान करते है। यह अति परिचय का ही परिणाम है।

३०२

प्रमदा मदिरा लक्ष्मीर्विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
दृष्टैवयोन्मादयत्येका पीता चान्यातिसंचयात् ॥

भावार्थः—प्रमदा, मदिरा और लक्ष्मी—ये तीन प्रकार की शराब हैं। प्रमदा देखने मात्र से, मदिरा पीने से और लक्ष्मी अतिसचय करने से, मनुष्य को मतवाला बना देती हैं।

संसार की असारता

३०३

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तहीनः क्षणमपि च संपूर्णविभवः।
जराजीर्णैरंगैर्नट इव वलीमण्डिततनुर्नरः
संसारांके विशति यमधानीजवनिकाम् ॥

भावार्थः—नट जिस तरह नाटक में कभी बालक का और कभी युवा का, कभी रंक का और कभी राजा का, तथा कभी जप्पल बुड्ढे का पार्ट अदा करके, पर्दे के पीछे चला जाता है, वैसे ही मनुष्य इस संसार-रूपी नाटक में, कभी बालक बनता है, उसके बाद कामी रसिक युवा बनता है, फिर कभी धनहीन दरिद्र बनता है और कभी सम्पूर्ण ऐश्वर्य से सुसज्जित होकर संसार का सुख भोगता है, तथा अन्त में जिसके सारे शरीर में झुर्रियाँ पड़ गयी हैं ऐसे जराजीर्ण बुड्ढे का स्वांग रचकर, अन्तिम पटाक्षेप के साथ यमपुरी रूपी पर्दे के पीछे छिप जाता है।

३०४

क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलहः
क्वचिद्वीणानादः क्वचिदपि च हाहेति रुदितम्।

क्वचिद्रम्या रामा क्वचिदपि जराजर्जरतनुर्न
जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः ।

भावार्थः—कही विद्वानो के बीच शास्त्रार्थ हो रहा है, तो कही शराब के नशे मे चूर शराबी आपस मे तू तू मैं मैं कर रहे है, कही वीणा की स्वर-लहरी झकार कर रही है तो कही हाहाकार और रोना-पीटना मचा हुआ है, कही सुन्दर से सुन्दर रूपवती रमणिया विलास कर रही है, तो कही बुढापे से जर्जर शरीर वाला कोई खूसट बुड्ढा खास रहा है—पता नही यह ससार अमृत से पूर्ण सुन्दर सरोवर है या विष से भरा हुआ घडा है ।

३०४

दन्तैः प्रस्थितमग्रतस्तदनु भोः शौक्ल्यं धृतं मूर्धजैः
कर्णाभ्यामपि वाग्विलासरचना कष्टात्समाकर्ण्यते ।
नेत्राभ्यामपि चापलं युवतिषु त्यक्तं गतं यौवनं
सार्थेऽस्मिंश्चलिते कथं पुनरहं यातास्मि तच्चिन्तये ।।

भावार्थ—पहले तो दान्त चले गए, उनके पीछे बालो ने भी सफेदी धारण कर ली, उसके बाद कानो ने भी जवाब दे दिया और अब बडे कष्ट से वाणी के विलास से पूर्ण रचना सुनायी पडती है। नेत्रो ने भी युवतियो के प्रति अपनी चचलता को त्याग दिया है—अब नेत्रो मे कोई आकर्षण नही रह गया है। जवानी भी अब चली गयी है। ये सब साथी एक एक करके

साथ छोड़कर चले गये। अब मैं विना इन साथियों के कैसे जाऊंगा—यही मैं सोच रहा हूँ। एक उर्दू के कवि ने भी कुछ इसी ढग पर कहा है—

"अब तमन्ना बेसदा है, अब निगाहें बेपयाम।
जिन्दगी एक फर्ज है, जीता चला जाता हूँ मैं॥"

उर्दू का एक और शेर भी है—

बहारे रुखसार आरजी है, खिजा बराबर लगी हुई है।
जवानी दो दिन की पाहुनी है, सदा किसी की नहीं रही है॥

३०६

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालोऽपि न ज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्॥

भावार्थः—प्रतिदिन सूर्य अस्त होता है और उदय होता है, इस प्रकार जीवन का क्षय होता जा रहा है। अनेक सांसारिक कार्यों और व्यापारों में व्यस्त रहते हुए, समय बीता जा रहा है—इसका भी भान कभी नहीं होता। प्रतिदिन जन्म, जरा, व्याधि और मरण को देखकर भी यह भय नहीं होता कि एक दिन मेरी भी यही दशा होने वाली है। इस प्रकार सारा ससार मोह और अज्ञान से भरी हुई प्रमाद रूपी मदिरा को पीकर, मतवाला हो रहा है। ज्ञान कैसे हो ? भर्तृहरि के इस श्लोक का हिन्दी पद्यानुवाद किसी ने इस प्रकार किया है :—

उदै अस्त रवि होत आयु को क्षीण करत नित।
गृह धन्धे के माहि समय बीतत अजान चित॥
आँखिन देखत जन्म जरा अरु विपति मरन नित।
तहूँ डरत नहि नेक शक हूँ नाहि करत चित॥
जग जीव मोह मदिरा पिए छाके फिरे प्रमाद मे।
गिरत उठत फिर फिर गिरत विषय वासना स्वाद मे॥

३०७

महाशय्या भूमिर्मसृणमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।
स्फुरन्दीपश्चन्द्रः स्वधृतिवनितासंगमुदितः
सुखं शान्तः शेते विगतभवभीतिर्नृप इव॥

भावार्थः—विस्तृत भूमि ही जिसका पलग है, चिकनी भुजा ही जिसकी तकिया है, चारो ओर फैला हुआ आकाश ही जिसका चन्दोवा है, ठडी और शरीर को सुख देने वाली हवा ही जिसका पंखा है, प्रकाशमान चन्द्रमा ही जिसका दीपक है, धृति (धैर्य) ही जिसकी पत्नी है—ऐसा मनुष्य राजा के समान सुख और शान्ति के साथ, चिन्तारहित होकर, शयन करता है। भर्तृहरि के इस श्लोक का हिन्दी अनुवाद किसी ने इस प्रकार किया है—

पृथिवी परम पुनीत पलग ताको मन मान्यो।
तकिया अपनो हाथ गगन को तम्बू तान्यो॥
मोहत मन्द चिराग बीजना करत दसो दिसि।
वनिता अपनी वृत्ति सगहो रहत दिवस निसि॥

अतुलित अपार संपत्ति सहित सोवत है सुख में मगन।
मुनिराज महा नृपराज ज्यों पौढ़े देखे हम दृगन॥

३०८

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवांभो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम्॥

भावार्थ.—वृद्धावस्था शेरनी के समान सामने खड़ी हुई डरा रही है, रोग शत्रु के समान प्रहार कर रहे हैं, आयु का एक एक क्षण उसी प्रकार निकलता चला जा रहा है, जिस प्रकार कि छेदहे घडे से पानी एक-एक बूंद करके बह जाता है—तथापि मनुष्य बुराई करने से नहीं चूकता, यह महान् आश्चर्य की बात है। महाकवि अकबर ने भी यही कहा है—

दिन गुजरते ही चले जाते हैं
लोग मरते ही चले जाते है।
जानते हैं कि यह गफलत के हैं काम
फिर भी करते ही चले जाते हैं॥

३०९

भेको धावति तं च धावति फणी सर्पं शिखो धावति
व्याघ्रो धावति केकिनं विधिवशात् व्याधोऽपि तं धावति।

स्वस्वाहारविहारसाधनविधौ सर्वे जना व्याकुलाः
कालस्तिष्ठति पृष्ठतः कचधरः केनापि नो दृश्यते ॥

भावार्थः—मेढक दौडा जा रहा है, उसको खाने के लिए उसके पीछे सर्प दौड रहा है, साप को खाने के लिए उसके पीछे मोर दौड़ रहा है, मोर का शिकार करने के लिए उसके पीछे शेर दौड रहा है, और भाग्य का खेल तो देखो कि शेर के पीछे उसका शिकार करने के लिए व्याधा (शिकारी) दौड रहा है। इस प्रकार अपने-अपने आहार-विहार का साधन जुटाने मे ही सब लोग व्यग्र हैं। कोई नही देखता कि महाबली काल उसका बाल पकडे हुए, उसके पीछे खडा है!

२१०

सा रम्या नगरी महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः।
उद्वृत्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ॥

भावार्थ.—वे मन लुभाने वाली, सर्व-सम्पन्न, सुसज्जित राजधानिया, वे वडे-वडे राजे और महाराजे, वे शूरवीर सामन्त और जागीरदार, उनके दरबार मे वडे-वडे बुद्धिमान, विद्वान्, दरबारी और सभासद, वे चन्द्रमुखी रानिया और पटरानिया, वे सत्ता के मद मे मतवाले राजकुमार, वे स्तुति और प्रशसा करने वाले चारण और भाट तथा उनकी स्तुति-कथाएँ और

कविताएं—ये सब जिस काल के चक्कर में आकर अब केवल स्मरणमात्र में शेष रह गये है, उनकी अब केवल याद ही बाकी रह गयी है, उस काल को मेरा नमस्कार है !

३११

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स हि भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥

भावार्थः—कोई सन्तोषी ज्ञानी पुरुष किसी राजा से कहता है:—राजन्, तू हमें दरिद्र समझता है, पर हम दरिद्र नहीं हैं। तू शाल-दुशालों से सन्तुष्ट होता है, तो हम पेड़ की छाल के वस्त्र पहिनकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। जब दोनों प्रकार से सन्तोष हो जाता है, तब फिर अन्तर क्या रहा ? दरिद्र तो वह है जिसकी तृष्णा बड़ी हो। जब मन सन्तुष्ट है, तो फिर कौन धनी और कौन निर्धन ? इसी भाव का कबीर का यह दोहा भी है:—

गोधन गजधन बाजिधन, और रतन धन खान ।
जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान ॥

३१२

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मरणपदवीं तेऽपि गमिताः ।

इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ।।

भावार्थः—हम जिनसे पैदा हुए, वे हमारे माता-पिता बहुत पहले ही इस ससार से कूच कर गये। जिनके साथ खेले-खाये और बडे हुए, वे हमारे मित्र और बन्धुगण भी अब केवल स्मरणमात्र मे शेष रह गये हैं। अब तो हमारी दशा किसी नदी के रेतीले किनारे पर उगे हुए, उस वृक्ष के समान हो गई है, जो किसी क्षण भी नदीके प्रवाह के झोके से लडखडा कर, गिरने ही वाला है।

३१२

मातर्लक्ष्मि भजस्व कंचिदपरं मत्कांक्षिणी मास्म भू-
र्भोगेभ्यः स्पृहयालवो न हि वयं का निःस्पृहाणामसि।
सद्यः स्यूतपलाशपत्रपुटके पात्रे पवित्रीकृते
भिक्षासक्तुभिरेव संप्रति वयं वृत्तिं समीहामहे ।।

भावार्थः—माता लक्ष्मी, किसी दूसरे के पास जाओ, मेरी आकाक्षा मत करो। भोगो की ओर अब मेरी कोई इच्छा नही रह गयी है। जिसकी कोई इच्छा नही रही है, उसके लिए तुम तिनके के समान हो। अब तो मैं ताजे पत्ते से बनाये हुए पवित्र दोने मे, भिक्षा से प्राप्त सत्तू से ही, अपना गुजारा कर लेता हूँ। मुझे और कुछ नहीं चाहिये।

३१४

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

भावार्थ.—हम कहते हैं कि भोगो को हमने भोगा है, परन्तु वास्तव मे हमने भोगो को नही भोगा है, भोगो ने ही हमे भोग डाला है। हम कहते हैं कि तपो को हमने तपा है, परन्तु वास्तव मे तपो ने ही हमे तप डाला है। हम कहते है कि काल चला गया है, पर वास्तव मे काल तो वही का वही है, हमी चले गये हैं। इसी प्रकार तृष्णा और लालसाएं जीर्ण नही हुई हैं, परन्तु हमी जीर्ण हो गये हैं। इसका भावानुवाद हिन्दी मे किसी ने इस प्रकार किया है—

भोग रहे भरपूर आयु यह भुगत गई सब।
तपो नाहि तप मूढ अवस्था तपत भई अब॥
काल न कितहूँ जात वयस यह चली जात नित।
वृद्ध भई नहि आस वृद्ध वय भई छाडि हित॥
अजहुँ अचेत चित चेत कर देह गेह सो नेह तज।
दुख दोष हरण मगल करन श्री हरिहर के चरण भज॥

३१५

संसार तव निस्तारपदवी न दवीयसी।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः॥

भावार्थः—हे ससार ! तुम्हे पार कर जाने का रास्ता दूर न होता, यदि बीच मे विघ्न-रूप ये मतवाले नेत्रवाली स्त्रिया न आ जाती। किसी हिन्दी कवि ने इसका पद्यानुवाद इस प्रकार किया है—

जो होती नहिं नार, मदमाती मृगलोचनी।
जग के परलो पार, गमन न दुर्लभ कछुक था॥

इसी भाव को लेकर बिहारी का यह दोहा भी है—

या भव पारावार को, उलघि पार को जाय।
तियछवि छाया ग्राहनी, गहै बीच ही आय॥

अकबर ने भी अपने हास्य रस मे कहा है—

"चिपकू दुनिया से किस तरह मैं।
औरत ने कहा कि गोद मैं हूँ॥"

२१६

श्लोकः पृच्छति सद्वार्त्तां शरीरे कुशलं तव।
कुतः कुशलमस्माकमायुर्याति दिने दिने॥

भावार्थः—लोग पूछते हैं—"भाई, शरीर कुशल से तो है ?" मैं कहता हूँ "कुशल कहाँ से है, जबकि आयु दिन पर दिन क्षीण होती चली जा रही है ?" इसी भाव का एक उर्दू शेर भी है—

लोग दुआ देते हैं साल-गिरह की।
याँ एक साल और गयी अपने गिरह की॥

एक और कवि कहता है—

सुबह होती है शाम होती है।
उम्र यों ही तमाम होती है॥

३१७

मृत्योर्बिभेषि किं मूढ़ भीतं मुंचति किं यमः ।
अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि ॥

भावार्थः—रे मूर्ख ! तू मृत्यु से क्यो डर रहा है ? मृत्यु से डरने वाले को यमराज क्या छोड देता है ? हाँ, जो जन्मा ही नही है, उसे यमराज नही पकडता, अतएव ऐसा प्रयत्न कर कि सदा के लिए मोक्ष हो जाय, फिर जन्म ही न लेना पडे ।

सुवर्णस्य मे मुख्यदुःखं तदेकं
यतो मां जना गुंजया तोलयन्ति ॥

भावार्थः—योग्य को अयोग्य के साथ तुलना करने से क्या दुःख होता है, इसी बात को लक्ष्य करके यह अन्योक्ति है। सोना कहता है—मुझे इस बात का कोई गम नही है कि मुझे लोग आग मे तपाते हैं और हथौडे से पीटते हैं, मुझे इस बात का भी दुख नही है कि लोग मुझे बाजारो मे जहाँ-तहाँ बेचते हैं। परन्तु दुःख है तो इस बात का, कि लोग मुझे तुच्छ गुंजा (घूंगची) के साथ तोलते हैं, मेरी बराबरी गुंजा के साथ करते हैं!

३२०

यद्वक्त्रं मुहुरीक्षसे न धनिनां ब्रूषे न चाटून्मृषा
नैषां गर्वगिरः शृणोषि न च तान्प्रत्याशया धावसि ।
काले बालतृणानि खादसि परं निद्रासि निद्रागमे
तन्मे ब्रूहि कुरंग कुत्र भवता किं नाम तप्तं तपः ॥

भावार्थः—किसी धनी मनुष्य से अपमानित किया गया कवि, मृग को सबोधन करके, कहता है:—हे मृग, जो तुमको धनियो का मुख बारबार नही देखना पडता, उनके सामने जाकर व्यर्थ मे उनकी चाटुकारी नही करनी पडती, उनकी गर्व-भरी वाणी सुननी नहीं पडती, उनके पास प्राप्ति की आशा से बार-बार दौड़ना नही पडता, भूख लगने पर कोमल घास खाकर अपना पेट भर लेते हो, नीद आने पर निश्चिन्त सो लेते हो—तो

हे मृग, मुझे भी बताओ, कौन-सा तप और कहां तुमने किया कि यह सब तुमको प्राप्त है, जो मुझको प्राप्त नहीं है ?

३२१

हेलोल्लासितकल्लोल धिक्ते सागर गर्जितम् ।
तव तीरे तृषाक्रान्तः पान्थः पृच्छति कूपिकाम् ॥

भावार्थ.—हे समुद्र, बड़ी-बड़ी उत्ताल लहरों के साथ तू गर्जता है। तेरे गर्जने को धिक्कार है! क्योंकि तेरे रहते हुए भी, प्यासे पथिक को तेरे किनारे पर स्थित किसी कुए पर, अपनी प्यास बुझाने के लिये, जाना पड़ता है। इसी भाव को रहीम ने इस प्रकार प्रगट किया है:—

धनि रहीम जल कूप को, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय॥

३२२

यद्यपि का नो हानिः परकीयां द्राक्षा रासभश्चरति ।
असमंजसमिति मत्वा तथापि नो खिद्यते चेतः ॥

भावार्थः—अयोग्य या अपात्र को ऊँचा पद मिल जाय या जिसके योग्य वह नहीं है वह वस्तु उसको मिल जाय, तो देखने वाले विवेकी मनुष्य को खलता है, इसी बात को लक्ष्य करके यह अन्योक्ति है—यद्यपि अंगूर की खेती हमारी नहीं है, किसी दूसरे की है। और यदि कोई गदहा उसे चरता है तो उसमें हमारी क्या हानि है ? परन्तु यह एक अत्यन्त अटपटी और

अनुचित बात है कि गदहा अंगूर की खेती चरे, इससे हमारा मन खिन्न हो रहा है।

३२३

धीरध्वनिभिरलं ते नीरद मे मासिको गर्भः ।
उन्मदवारणबुद्ध्या मध्येजठरं समुच्छलति ॥

भावार्थः—एक सिंहिनी जिसके केवल एक मास का गर्भ पेट में है, गर्जते हुए मेघ को सबोधन करके कहती है:—हे मेघ, मत गरज! मत गरज! अपने इस गम्भीर नाद को बन्द कर! देखता नहीं है कि एक मास का गर्भ मेरे पेट में है। वह यह समझकर कि कोई मतवाला हाथी चिंघाड रहा है, मेरे पेट में उछल रहा है कि बाहर निकलें और इसे पछाड़ें। यह श्लोक वीर रस का भी एक उत्तम उदाहरण है। इसके एक-एक शब्द से वीर रस टपक रहा है। इसका हिन्दी अनुवाद किसी ने इस प्रकार किया है:—

अहो मेघ मति गरजु अब, मेरो मासिक गर्भ।
जानि मत्तगज उदरमधि, उछलत आज सगर्व॥

३२४

त्वयि वर्षति पर्जन्ये सर्वे पल्लविता द्रुमाः ।
अस्माकमर्कवृक्षाणां पूर्वपत्रेऽपि संशयः ॥

भावार्थः—वर्षा होने पर सब पेड़ पल्लव हरे-भरे हो जाते हैं, परन्तु मदार का पेड़ उलटा सूख जाता है, इस पर मदार का पेड़ मेघ को सम्बोधन करके कहता है:—हे मेघ, तुम्हारे बरसने पर

सब पेड़ तो हरे-भरे हो गये, सबो पर पत्ते छा गये। परन्तु, हम मदार के पेडो का यह हाल है कि हमारे पत्ते जो पहले थे, उनके भी चले जाने की शका हो रही है। यह भाग्य का खेल है।

३२५

भीतो वाड़ववासतो जलनिधौ शंभोः शिरः स्वीकृतं
तत्र त्र्यम्बकमौलिवासुकिविषज्वालावलीत्रासितः ।
तस्माल्लोकमगाद्दिवं निपतितस्तत्रैव राहोर्मुखं
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः ॥

भावार्थ :—अभागा मनुष्य कही भी जाय, विपत्ति उसका कभी साथ नही छोडती-इस पर चन्द्रमा को लक्ष्य करके यह अन्योक्ति है :—

चन्द्रमा का असली निवास समुद्र है। वहाँ वाड़वाग्नि से बचने के लिये, उसने भगवान् शिव के शिर मे शरण लेकर रहना स्वीकार किया। वहा शिव की जटा में रहने वाले नाग वासुकि के विष की ज्वाला से भयभीत होकर, वह आकाश मे रहने लगा। परन्तु वहाँ भी उसको चैन नही मिला। वहाँ राहु उसको ग्रसने के लिये सदा तैयार रहता है। सच है, भाग्य-रहित मनुष्य जहाँ जहाँ जाता है, वहाँ वहाँ विपत्ति भी उसके साथ साथ लगी रहती है।

३२६

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्री. ।

इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार।

भावार्थ :—एक भौरा सन्ध्या समय एक कमल के पुष्प पर, उसका रस पीने के लिये, आकर बैठा। इतने में सूर्य छिप गया और कमल का पुष्प मुन्द जाने से, भौंरा उसी के अन्दर बन्द हो कर सोचने लगा —

"रात बीतेगी, सुन्दर प्रभात होगा, सूर्य उदय होगा, कमलो की शोभा खिलेगी"। इस प्रकार जब भौंरा सोच ही रहा था कि एक मस्त हाथी आया और उसने कमल को नाल-सहित उखाड कर फेंक दिया। मनुष्य कितनी आशा लगाता है, पर विधाता के मन मे नही होता, तो कोई आशा पूरी नही होती, "अपने मन कुछ और है धाता के कुछ और"। इसी भाव को लेकर यह अन्योक्ति है। हिन्दी पद्य मे इसका अनुवाद किसी ने इस प्रकार किया है —

आयो एक भ्रमर प्रफुल्लित सरोज पास,
मञ्जु मकरन्द के सनेह जाल परिकें।
कहै कुसुमाकर दिवाकर बिदा ह्वै गये,
मुँदि गो सरोज भौंर ठौरें रह्यो डरिकें॥
बीतेगी विभावरी प्रकाश भानु दइहै तब,
जैहों कहू बाहर सपासो ह्वौ निकरिकें।
सोचति ही रहि गो उपाय इमि जौं लौं वह,
तौलौं गज तोड़ो आय पाखुरी पकरिकें॥

३२७

शैत्यं नाम गुणस्तवैव सहजः स्वाभाविकी स्वच्छता
किं ब्रूमः शुचितां भवन्ति शुचयः स्पर्शेन यस्यापरे ।
किं वातः परमुच्यते स्तुतिपदं यज्जीवनं देहिनां
त्वं चेन्नीचपथेन गच्छसि पयः कस्त्वां निरोद्धुं क्षमः ॥

भावार्थ :—सब गुणों से विभूषित होने पर भी यदि कोई नीच मार्ग का अवलंबन करे तो उसको कौन रोक सकता है, इसी भाव को लेकर जल के सबन्ध में यह अन्योक्ति है :—हे जल, शीतलता तुम्हारा एक सहज गुण है, स्वच्छता तुम्हारा स्वभाव है, तुम्हारी पवित्रता के बारे में क्या कहें—तुम इतने पवित्र हो कि तुम्हारे स्पर्श मात्र से दूसरे पवित्र हो जाते हैं। इससे बढ़कर और क्या तुम्हारी स्तुति में यह सकते हैं, कि तुम प्राणीमात्र के जीवन हो। इतने पर भी यदि तुम नीच मार्ग पर जाते हो, तो तुम्हें कौन रोक सकता है ? जल सदा नीचे की ओर बहता है, इसी पर यह अन्योक्ति है।

३२८

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
लोलं विलोलय मनः सुमनोलतासु ।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले
बालां कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥

भावार्थ :—रे भ्रमर, अभी तू ऐसी पुष्प-लताओं पर, जो तेरा मर्दन और भार सह सकें, जाकर अपना मनो-विनोद कर। इस नवमल्लिका की नन्ही कली को, जिसके खिलने का अभी समय भी नहीं है और न जिसमें अभी पराग ही आया है, व्यर्थ को क्यों तंग कर रहा है ? इसी भाव का एक दूसरा श्लोक भी नीचे देखिये।

३२६

यावन्न कोषविकासं प्राप्नोतीषन्मालती-कलिका।
मकरन्दपानलोभयुक्त भ्रमर तावदेव मर्दयसि॥

भावार्थ :—अभी तो वह मालती की कली थोड़ी खिली भी नहीं है। ऐ रस का लोभी भौंरा, तू अभी से ही उसका मर्दन करने लगा !

इन दोनों ऊपर दिये गये श्लोकों का भाव लेकर ही, बिहारी ने अपना यह प्रसिद्ध दोहा, जयपुर के प्रसिद्ध महाराज जयसिंह को चेतावनी के रूप में लिखा था :—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास को काल।
अली कली ही सों बंध्यों, आगे कौन हवाल॥

३३०

स्थिति रे नो दध्याः क्षणमपि मदान्धेक्षण सखे
गजश्रेणीनाथ त्वमिह जटिलायां वनभुवि।

असौ कुंभिभ्रान्त्या खरनिखरविद्रावितमहा-
गुरुग्रावग्रामः स्वपिति गिरिगर्भे हरिपतिः ।।

भावार्थ :—किसी ऊचे पद या स्थान पर कोई मनुष्य तभी तक कब्जा जमाये रहता है, जब तक कि कोई दूसरा योग्य व्यक्ति उस पर अधिकार करने के लिये नही आता । योग्य व्यक्ति के आने पर फिर उसको भागना पडता है । इसी भाव की यह अन्योक्ति है । कवि किसी मतवाले हाथी को सम्बोधन करके कहता है:—रे गजराज, तेरी आँखें मद से अन्धी हो रही हैं, तुझे सूझ नही पडता कि जिस गहन वनमे तू अभी ठहरा है, वहाँ तेरा रहना ठीक नही है । हे मित्र, मैं तुम्हे सलाह देता हूँ कि अपना भला चाहते हो, तो यहाँ से तुरन्त चले जाओ । क्योंकि मृगराज सिंह,हाथी के भ्रम से, अपने तीक्ष्ण नखो से, पत्थर की बडी शिला को विदीर्ण करने के बाद, देखो, पहाड की गुफा मे सो रहा है । जागेगा तो तुम्हारा कही पता भी नही चलेगा । पण्डितराज जगन्नाथ की इस अन्योक्ति का हिन्दी पद्यानुवाद किसी ने इस प्रकार किया है :—

स्वामी कुंजरवृन्द के इस घने कान्तार के भीतर
रे एक क्षण भी न तू ठहरना उन्माद मे भारर ।
हाथी जान शिला विदीर्ण करके पैने नखो से निरी
सोता है गिरिगर्भ मे यह महाभीमाकृती केसरी ।।

३३१

नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत् ।
विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः ।।

भावार्थः—ऐसा कहते है कि हस नीर और क्षीर (दूध और पानी) को अलग-अलग करके, दूध को पी लेता है और पानी को छोड देता है, यही उसका स्वाभाविक धर्म है। इस पर कवि की अन्योक्ति है.—हे हस, नीर और क्षीर का विवेक करने मे यदि तुम्ही आलस्य और ढील करोगे, तो बताओ इस ससार मे फिर कौन अपने कुल की मर्यादा का पालन करेगा ? हिन्दी के किसी कवि ने पण्डितराज जगन्नाथ की इस अन्योक्ति का अनुवाद इस प्रकार किया है:—

नहिं करिहो जब हस तुम, नीर छीर पहचान ।
रखिहै कुल मरजाद तब, जग मँह कौन सुजान ॥

३३२

समुपागतवति दैवादवहेलां कुटज मधुकरे माऽगाः ।
मकरन्दतुन्दिलानामरविन्दानामयं महामान्यः ॥

भावार्थः—कोई गुणी, विद्वान्, प्रतिष्ठित व्यक्ति यदि किसी साधारण मनुष्य के यहाँ दैवात् चला जाय, तो उसका तिरस्कार नही करना चाहिये। इसी भाव को इस अन्योक्ति मे प्रगट किया गया है :—हे कुटज, तेरा अहोभाग्य है जो यह भौंरा तेरे पास अकस्मात् आ गया है। यह तेरे जैसे पुष्पो के पास आता कहाँ है ? इसकी प्रतिष्ठा तो वे कमल करते है जिनमे मकरन्द ठूस ठूस कर भरा हुआ है। इसका पद्यानुवाद हिन्दी मे इस प्रकार है—

बडे भाग आयो मधुप, कुटज न कर अपमान ।
यह विशेष मकरन्दजुत, कमलन के मेहमान ॥

३३३

तावत् कोकिल विरसान्
यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन् ।
यावन् मिलदलिमालः
कोऽपि रसालः समुल्लसति ।।

भावार्थः—जब तक अपनी योग्यता और प्रतिष्ठा के अनुकूल समय न आवे, तब तक मनुष्य को कहीं बैठकर अपने प्रतिकूल समय को काटते हुए, चुपचाप अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसी भाव को लक्ष्य करके यह अन्योक्ति कही गयी है :—हे कोकिल, तब तक अपने प्रतिकूल इन नीरस दिनों को किसी वन में बस कर चुपचाप काट देना चाहिये, जब तक कि आम के वृक्षों पर फिर मंजरी न आ जाय और भौंरे फिर उस पर मडराने न लगें। पण्डितराज जगन्नाथ की इस अन्योक्ति का हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार है:—

बितवहु कोकिल अनत बसि, नीरस दिवस बिसाल ।
नहिं जबलौं अलिमालजुत, बिलसत सरस रसाल ।।

३३४

येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत ।
कुटजे खलु तेनेहा तेने हा मधुकरेण कथम् ।।

भावार्थः—जिस भौंरे ने अपनी उम्र के सारे दिन खिले हुए कमल के पुष्पों में बिताये थे, वही अब निकृष्ट कुटज के

पुष्पों के साथ प्रेम करने लगा, इससे बढ़ कर खेद की बात और क्या है ? किसी कविने इसका हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार किया है:—

बहु दिन विकसित कमल मंह, बितयो मधुकर जौन ।
हा ! अब कैसे कुटज मँह, परम प्रेम कियो तौन ॥

३३५

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः ।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम् ॥

भावार्थः—पहले जो अच्छी दशा में रहा हो, बाद में उसकी दशा बिगड़ जाने से कैसी शोचनीय परिस्थिति हो जाती है, इसी भाव को इस अन्योक्ति में दर्शाया गया है:—पहले जिस राजहंस ने अपनी सारी आयु ऐसे मानसरोवर में बितायी हो, जिसका जल सारसों की पंक्ति से बिखरे हुए कमल के पराग से सुरभित हो रहा था, वह अब एक गन्दे जलवाले तालाब मे, जहाँ मेढकों के समूह अपनी टर-टर लगाये हुए हैं, बताओ अब कैसे अपना दिन बितावे ? पण्डितराज जगन्नाथ की इस अन्योक्ति का किसी कवि ने हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार किया है:—

जो परागजुत पद्म गन्ध तें नीर सुवासित,
मानसरोवर माँहि बितायो वय अपनो नित ।

सो अनेक मंडूक-सहित पल्वल मँह वासर,
कहो वितावे कस मराल कुलनाथ गुणाकर ॥

३३६

मुंच मुंच सलिलं दयानिधे
नास्ति नास्ति समयो विलम्बने।
अद्य चातककुले मृते पुन-
र्वारि वारिधर किं करिष्यति ॥

भावार्थः—समय पर दान देने से लाभ होता है, समय बीत जाने पर उस दान से क्या लाभ ? 'का वर्षा जब कृषी सुखाने'—इसी भाव को लेकर यह अन्योक्ति है:—हे दया के सागर मेघ ! शीघ्र-शीघ्र अपने जल की वर्षा करो,- विलम्ब करने का समय अब नहीं रहा । जब चातक सब मर जायेंगे, तब फिर तुम्हारे जल का दान देने से क्या लाभ ?

३३७

पाटीर तव पटीयान् कः परिपाटीमिमामुरीकर्त्तुम् ।
यत्पिपतामपि नृणां पिष्टोऽपि तनोषि परिमलैः पुष्टिम् ॥

भावार्थः—अपकार करने वाले के प्रति भी जो उपकार करता है, वह धन्य है । इसी भाव की यह अन्योक्ति है:—हे चन्दन, तुम्हें जो पीसते हैं उनको तुम अपने परिमल से पुष्टि देते हो—तुम्हारी इस मनोखी परिपाटी का तुम्हारे सिवा और कौन पालन कर सकता है ? पण्डितराज जगन्नाथ की इस

अन्योक्ति का किसी हिन्दी कवि ने पद्यानुवाद इस प्रकार किया है:—

चन्दन यह तेरो चलनि, चलि को सक जग माहि।
जऊ तोहि घरसत मनुज, तऊ देत सुख ताहि॥

हास्य और व्यंग

२३८

एका भार्या प्रकृतिमुखरा चंचला च द्वितीया
पुत्रस्त्वेको भुवनविजयी मन्मथो दुर्निवारः ।
शेषः शय्या शयनमुदधौ वाहनं पन्नगारिः
स्मारं स्मारं स्वगृहचरितं दारुभूतो मुरारिः ॥

भावार्थः—जगन्नाथ जी की मूर्ति काठ की क्यों है, इसपर किसी कवि की अनोखी सूझ है:—विष्णु की एक स्त्री सरस्वती है, जो स्वभाव से ही बड़ी वाचाल है-दिन भर बक बक करती रहती है। दूसरी स्त्री लक्ष्मी है जो महा चचला है-एक जगह स्थिर होकर नही रहती। कामदेव नामका एक ही पुत्र है, जो अपने कहने मे नही है-ससार को विजय करने मे लगा हुआ है। विष्णु भगवान् सोते किस पर हैं ? शेषनाग पर। रहने का स्थान कहां है ? समुद्र मे। वाहन क्या है ? सर्पों का शत्रु, गरुड़। अपने घर का यह सब चरित्र देखते-देखते विष्णु भगवान् काठ के हो गये। वही जगन्नाथ जी हैं।

२३९

भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे किन्तेन मद्यं विना
मद्यं चापि तव प्रियं प्रियमहो वारांगनाभिः सह ।

वेश्याप्यर्थरुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतः नष्टस्य कान्या गतिः ॥

भावार्थः—एक जैन साधु को मांस-भक्षण करते हुए देखकर कवि उससे पूछता है—"अरे भिक्षु, तू मांस खाता है?" साधु—"मांस तो खाता हूँ, किन्तु बिना शराब के मांस का क्या मजा?" कवि—"अरे तू शराब भी पीता है?" साधु—"हाँ, शराब भी वेश्याओं के साथ कभी-कभी पी लेता हूँ।" कवि—"अरे वेश्या तो धन की लोभी होती है, तेरे पास धन कहाँ से आता है?" साधु—"जब कभी जुआ खेल लेता हूँ या चोरी कर लेता हूँ, तो धन आ जाता है।" कवि—"अरे तू जुआ भी खेलता है और चोरी भी करता है?" साधु—"अरे, आप क्या पूछते हैं? जो नष्ट हो गया हो, उसकी और गति ही क्या है?"

३४०

अत्तुं वाञ्छति वाहनं गणपतेराखुं क्षुधार्तः फणी
तं च क्रौंचरिपोः शिखी च गिरजासिंहोऽपि नागाननम्।
गौरी जन्हुसुतामसूयति कलानाथं कपालाननो
निर्विण्णः स पपौ कुटुम्बकलहादीशोऽपि हालाहलम् ॥

भावार्थः—भगवान् महादेव ने हालाहल (विष) का पान क्यों किया, इस पर किसी कवि की अनोखी कल्पना है—महादेव जी के एक पुत्र गणेश जी हैं, उनके वाहन चूहे को महादेव जी

की जटा मे लिपटा हुआ सर्प, क्षुधा-पीडित होकर, खाने को दौड रहा है। महादेव जी के एक दूसरे पुत्र स्वामि कार्तिकेय हैं, उन का वाहन मोर उस सर्प को खाना चाहता है। महादेव जी की स्त्री पार्वती का वाहन सिंह भी गणेश को हाथी समझ कर, उससे लडने को तैयार है। महादेव जी की दो पत्नियाँ पार्वती और गगा है, जो दोनो परस्पर सौतिया डाह से जला और आपस मे लडा करती हैं। महादेव जी का एक गण कपालानन नाम का है, जो महादेव जी के भाल मे स्थित चन्द्रमा से ईर्ष्या करता है—इस प्रकार अपने पारिवारिक कलह से ऊबकर महादेव जी ने, इस फूफुत से बचने के लिये, हालाहल (जहर) पी लिया। न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी !

३४१

केचिद्वदन्त्यमृतमस्ति सुरालयेषु
केचिद्वदन्ति प्रमदाधरपल्लवेषु ।
ब्रूमो वयं सकलशास्त्रविचारदक्षाः
जंभीरनीरपरिपूरितमत्स्यखण्डे ॥

भावार्थः—कोई कहते हैं कि अमृत स्वर्ग मे है और कोई कहते हैं कि अमृत कामिनी स्त्रियो के अधरोष्ठ मे है। किन्तु मैं सब शास्त्रो के विचारपूर्वक अध्ययन और मनन करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचा हूँ, कि यदि अमृत कहीं है तो यह जभीरी नीबू के रस से भरे हुए, मछली के टुकड़े मे है, और कहीं भी नही है !

३४२

कोऽयं द्वारि हरिः प्रयाह्युपवनं शाखामृगस्यात्र किम्
कृष्णोऽहं दयिते बिभेमि सुतरां कृष्णादहं वानरात्।
राधेऽहं मधुसूदनो व्रज लतां तामेवतन्वीमलं
इत्थं निर्वचनीकृतो दयितया ह्रीणो हरिः पातु वः॥

भावार्थ :—इस श्लोक में राधा और कृष्ण का संवाद अत्यन्त विनोदपूर्ण है :—

कृष्ण राधा के यहाँ आकर द्वार खटखटा रहे है। इस पर राधा पूछती है—"दर्वाजा कौन खटखटा रहा है?" कृष्ण—"मैं हरि हूँ।" राधा—"यदि हरि (बन्दर) हो तो वन मे जाओ, यहाँ तुम्हारा क्या काम है?" कृष्ण—"प्रियतमे, मैं कृष्ण हूँ" राधा—"यदि कृष्ण (काला मुह वाला लगूर) हो तो उससे तो मैं और भी डरती हूँ।" कृष्ण—"राधे! मैं मधुसूदन हूँ" राधा—"यदि मधुसूदन (मधु के लोभी भौंरा) हो, तो किसी सुकुमार लता पर जाओ।" इस प्रकार प्रियतमा राधा से उत्तर-प्रत्युत्तर में हराये गये, हरि आपकी रक्षा करें!

३४३

कस्त्वं शूली मृगय भिषजं नीलकण्ठः प्रियेऽहं
केकामेकां कुरु पशुपतिर्नैव दृश्ये विषाणे।
स्थाणुर्मुग्धे न वदति तरुर्जीवितेशः शिवायाः
गच्छाटव्यामिति हतवचाः पातु वश्चन्द्रचूड़ः॥

भावार्थः—इस श्लोक मे प्रश्नोत्तर के रूप मे शिव और पार्वती की व्यंगावली बडी सुन्दर है :—

पार्वती—"तुम कौन हो ?" शिव—"मैं शूली (त्रिशूल-धारी शिव) हूँ।" पार्वती—"यदि तुम शूली (शूल रोग से पीड़ित) हो, तो किसी वैद्य के पास जाओ।" शिव—"प्रिये मैं नीलकण्ठ (महादेव) हूँ।" पार्वती—"यदि तुम नीलकण्ठ (मोर) हो, तो केका (मोर की बोली) बोलो।" शिव—"मैं पशुपति (महादेव) हूँ।" पार्वती—"यदि तुम पशुपति (बैल) हो तो तुम्हारे सीग कहाँ है ?" शिव—"मुग्धे ! मैं स्थाणु (महादेव) हूँ।" पार्वती यदि तुम स्थाणु (वृक्ष) हो, तो वृक्ष तो बोल नही सकता, परन्तु तुम बोलते हो।" शिव—"मैं शिवा (पार्वती) का पति हूँ।" पार्वती—"यदि तुम शिवा (शृगाली) के पति शृगाल हो तो वन में जाओ, यहाँ तुम्हारा क्या काम है ?" इस पर महादेव जी वचन-रहित होकर, चुप हो गये और कोई जवाब उन्हें नही सूझा। ऐसे हृतवचन चन्द्रचूड़ महादेव भगवान् आपकी रक्षा करें !

३४४

सहस्रास्यो नागः प्रभुरपि मतः पंचवदनः
षडास्यो हन्तैकस्तनय इतरो वारणमुखः ।
सदा भक्ष्यं शश्वत्प्रभवतु कथं वर्त्तनमिति
श्वसन्त्यां पार्वत्यामथ जयति शंभुः स्मितमुखः ॥

भावार्थ :—इस श्लोक मे महादेवजी के परिवार का वर्णन

बडे विनोदपूर्ण रूप से किया गया है :—एक तो हज़ारमुखवाला नागराज उनके शरीर के साथ लपटा हुआ है, अतएव उसके खिलाने की समस्या है। फिर महादेव जी स्वय पंचमुखी (पांच मुख वाले) है, उनके पांच मुखो को खिलाना एक दूसरी समस्या है। दो पुत्र हैं—एक षडानन (छ मुखवाले कार्तिकेय), दूसरे गजानन (हाथी के मुख वाले)। जीविका का कोई बन्धा हुआ साधन नही, सदा भीख पर गुजारा करना पड़ता है। तो फिर गृहस्थी कैसे चलेगी, इस प्रकार शोच में बैठी हुई पार्वती को देखकर, महादेव जी हंस पडे। ऐसे हसते हुए महादेव जी सबका मंगल करें!

३४५

विष्णोरागमनं निशम्य सहसा कृत्वा फणीन्द्रं गुणं '
कौपीनं परिधाय चर्म करिणः शंभुः पुरो धावति ।
दृष्ट्वा विष्णुरथं सकम्पहृदयः सर्पोऽपतद् भूतले
कृत्तिविस्खलिता ह्रिया नतमुखो नग्नो हरः पातु वः ॥

भावार्थः—यह सुनकर कि विष्णु भगवान् मिलने के लिए आये हुए हैं, दिगम्बर महादेवजी जल्दी के मारे सर्पराज को डोरी के रूप में कमर मे बाध कर और उस में हाथी के चर्म की कोपीन (लगोटी) कस कर, विष्णु का स्वागत करने के लिए, आगे दौडे। पर इतने मे विष्णु के वाहन, गरुड़ को देखकर भय से कम्पित होकर सर्प, जो कमर मे बधा था, पृथ्वी पर गिर गया और उसके साथ ही लगोटी भी खसक गयी। शिव भगवान् नग्न हो गये

और लज्जा के मारे उन्होंने अपना सिर नीचे कर लिया। ऐसे दिगम्बर भगवान् आपकी रक्षा करें!

३४६

किं गोत्रं किमु जीवनं किमु धनं का जन्मभूः किं वयः
किं चारित्र्यममुष्य के सहचराः के वंशजाः प्रावतनाः।
का माता जनकः शिवस्य क इति प्रश्नेण पृथ्वीभृता
पृष्टाः सस्मितनम्रमूकवदनाः सप्तर्षयः पान्तु वः॥

भावार्थः—पार्वती के विवाह के समय, श्वशुर हिमालय ने अपने भावी जामाता महादेव के सम्बन्ध मे सप्तर्षियो से पूछा कि इनका गोत्र क्या है? इनकी जीविका का साधन क्या है? इनके धन क्या है? इनकी जन्मभूमि क्या है? इनकी आयु क्या है? इनका चरित्र कैसा है? इनके साथी-सगी कौन हैं? इनके पूर्वपुरुप कौन हैं? इनके माता-पिता कौन हैं? इन प्रश्नों को सुनकर सप्तर्षि लोग मुस्करा कर चुप हो गये और अपना मुख नीचे कर लिया। ऐसे सप्तर्षि आपकी रक्षा करें!

३४७

रामाद्याचय मेदिनीं धनपतेर्बीजं बलाल्लांगलं
प्रेतेशान्महिषं तवास्ति वृषभः फालं त्रिशूलं तव।
शक्ताहं तव चान्नदानकरणे स्कन्दोऽस्ति गोरक्षणे
खिन्नाहं हर भिक्षया कुरु कृषिं गौरीवचः पातु वः॥

भावार्थः—महादेव जी को भीख मांगकर जीविका चलाते हुए देखकर, पार्वती जी बहुत खिन्न होकर, खेती करने की सलाह देती हुई कहती है.—"स्वामिन्, परशुराम से खेती के लिए थोडी-सी भूमि, कुबेर-से थोडा-सा बीज, बलराम से हल, यम से भैंसा मागकर खेती करिये। बैल आपके पास है ही और त्रिशूल आप का हल के फाल का काम दे देगा। भोजन मैं बना ही सकती हूँ। स्वामि कार्तिकेय गौ की रखवाली कर लेगा। भीख पर गुजारा करने से मैं ऊब गयी हूँ" महादेव जी से पार्वती का यह अनुरोध आपकी रक्षा करे !

३४८

लोले, ब्रूहि कपालिकामिनि, पिता कस्ते, पतिः पाथसां,
कः प्रत्येति जलादपत्यजननं, प्रत्येति यः प्रस्तरात् ।
इत्थं पर्वतसिन्धुराजसुतयोराकर्ण्य वाक्चातुरीं
संस्मेरस्य हरेर्हरस्य च मुदो निघ्नंतु विघ्नं तु वः ।

भावार्थः—मंगलाचरण के रूप मे लक्ष्मी और पार्वती का व्यंगपूर्ण यह प्रश्नोत्तर बहुत सुन्दर हैः—

पार्वती व्यंग से कहती हैं—"चचले !" लक्ष्मी भी उसी व्यंग के साथ उत्तर देती हैं—"कपालि (खप्पर लेकर भीख मागने वाले भिखारी शिव) की पत्नी, बोलो क्या कहना चाहती हो ?" पार्वती —"तुम्हारा पिता कौन हैं ?" लक्ष्मी—"मेरे पिता हैं जलों के राजा समुद्र।" पार्वती—"कौन विश्वास करेगा कि जल से सन्तान की उत्पत्ति होती है ?" लक्ष्मी—"पत्थर से सन्तान की उत्पत्ति

हो सकती है जो यह विश्वास करेगा, वही जल से भी सन्तान की उत्पत्ति का विश्वास करेगा"—इस प्रकार पर्वतराज हिमालय तथा सिन्धुराज समुद्र की कन्या पार्वती और लक्ष्मी के बीच इस व्यंगपूर्ण विवाद को सुनकर, हरि (विष्णु) और हर (महादेव) दोनो मुदित होकर हँस पडे। उनका यह मोद आपके विघ्नो का नाश करे!

३४९

आः पाकं न करोषि पापिनि कथं, पापी त्वदीयः पिता,
रण्डे जल्पसि किं, तवैव जननी रण्डा त्वदीया स्वसा।
निर्गच्छ त्वरितं गृहाद्वहिरितो नेदं त्वदीयं गृह,
चेदेवं बहिरेमि गर्दभगृहान्नात्रावतिष्ठे क्षणम् ॥

भावार्थ.—*एक कर्कशा कुलटा का वर्णन, पति और पत्नी के सवाद के रूप मे, इस श्लोक मे है*—पति—"रे पापिनी, खाना क्यो नही पकाती ?" पत्नी—"मुझे पापिनी कहता है, पापी तू और तेरा पिता।" पति—"रण्डे, तू बहुत जबान चला रही है।" पत्नी—"रण्डा तेरी माता और तेरी बहिन।" पति—"तू फौरन निकल जा मेरे घर से, यह तेरा घर नही है।" पत्नी—"गधे, यदि ऐसी बात है, तो मैं इस घर से तुरन्त जा रही हूँ, एक क्षण भी यहाँ नही ठहरना चाहती।"

३५०

आपाण्डुराः शिरसिजास्त्रिवली कपोले
दन्तावलिर्विगलिता न च मे विषादः।

एणीदृशो युवतयः पथि मां विलोक्य
तातेति भाषणपराः खलु वज्रपातः ॥

भावार्थः—एक बूढा रसिक अपने बुढापे के नाम रोता हुआ कहता है:—मेरे सिर के बाल सफेद हो गये, मेरे चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गयीं, मेरे दान्त गिर गये, मुंह पोपला हो गया—इन सब बातों से दुःख मुझे नहीं है। किन्तु दुःख इस बात का है कि मृगनयनी, चन्द्रमुखी युवतियाँ जब मुझे रास्ते में मिलती हैं तो मुझे "बाबा" कहकर पुकारती है। यह मुझे वज्रपात के समान लगता है। केशव ने इसी भाव को लेकर अपना यह प्रसिद्ध दोहा लिखा है:—

केशव केशन अस करी, अरिहू करिहैं नाहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं॥

२५१

या पाणिग्रहलालिता सुसरला तन्वी सुवंशोद्भवा
गौरी स्पर्शसुखावहा गुणवती नित्यं मनोहारिणी।
सा केनापि हृता तया विरहितो गन्तुं न शक्नोम्यहं
रे भिक्षो तव कामिनी ? नहि नहि प्राणप्रिया यष्टिका॥

भावार्थः—एक वृद्ध भिखारी की लाठी खो गयी। इस पर वह लोगों से अपने असीम दुःख का वर्णन करता हुआ, लाठी की प्रशंसा में कहता है:—"जो सदा मेरे हाथ से लालित थी, मेरे हाथ का सहारा थी, जो अत्यन्त सीधी और अच्छे वंश (बांस)

मे जन्मी थी, जो तन्वी, एकहरे शरीर वाली और गौर वर्ण की थी, जिसका स्पर्श अति सुखदायक था, जो अनेक गुणो वाली थी, जो सदा ही मनोहर थी, उसको कोई हर ले गया है और उसके विना मैं चलने मे भी असमर्थ हो गया हूं।" इस पर किसी ने पूछा कि "रे भिखारी, तो क्या वह तेरी घरवाली थी?" तब तुरन्त बात काट कर वह बोला—"नही नही! भाई, वह मेरी घरवाली नही थी। वह तो मेरी प्राणो से भी प्यारी लाठी थी।"

३५२

आहारे वडवानलश्च शयने यः कुंभकर्णायते
सन्देशे बधिरः पलायनविधौ सिंहः शृगालो रणे ।
अन्धो वस्तुनिरीक्षणेऽथ गमने खंजः पटुः क्रन्दने
भाग्येनैव हि लभ्यते पुनरसौ सर्वोत्तमः सेवकः ।।

भावार्थ—जो भोजन मे बडवानल के समान है, सोने मे कुंभकर्ण के समान है, कोई बात कही जाय उसके सुनने मे बहिरे के समान है, काम छोडकर भाग जाने मे सिंह के समान है, रण मे हिम्मत दिखाने मे सियार के समान है, क्या उचित है क्या अनुचित, इसके देखने मे अन्धे के समान है, चलने मे लूले के समान है और रोने तथा हायहाय करने मे जो परम पटु है—ऐसा सर्वोत्तम सेवक भाग्य से ही मिलता है।

३५३

स्वयं पंचमुखः पुत्रौ गजाननषडाननौ ।
दिगंबरः कथं जीवेदन्नपूर्णा न चेद्गृहे ।।

भावार्थः—महादेवजी की दरिद्रता और उस पर इतने बडे परिवार के भरणपोषण की चिन्ता का वर्णन, व्यगपूर्ण ढग से इस श्लोक मे है—महादेवजी स्वय तो पाचमुख वाले हैं। दो पुत्र हैं जो एक तो छ मुख वाला और दूसरा हाथी के मुख वाला है। एक मुख को खिलाना कितना कठिन होता है, फिर इतने मुखवालो का खिलाना कितना कठिन होगा, यह सहज ही अनुमान मे आ सकता है। और तुर्रा यह कि पास मे लगोटी भी नही। ऐसी दशा मे इतने बडे कुटुम्ब का गुजारा कैसे होता, यदि साक्षात् अन्नपूर्णा उनकी घरवाली न होती। तब उन्हे आटा दाल का भाव मालूम पडता!

३५४

आवयोः मेलनं कान्त कदा कुत्र भविष्यति ।
यदि वेदाः प्रमाणं स्युः कुंभीपाके भविष्यति ॥

भावार्थ.—एक लपट पुरुष और एक कुलटा नारी दोनो आपस मे मिले हैं। मिलने के बाद विदा होते समय, स्त्री अपने यार से पूछती है—"प्रियतम, अब हम दोनो का मिलना फिर कब और कहाँ होगा?" इस पर जार उत्तर देता है—"यदि वेदो का प्रमाण ठीक है, तो अब हम दोनो का मिलन केवल कुंभीपाक नरक मे ही होगा!"

३५५

असारे खलु संसारे सारं श्वशुरमन्दिरम् ।
हरो हिमालये शेते हरिः शेते महोदधौ ॥

भावार्थ —इस असार ससार मे यदि कुछ सार है, तो वह ससुर का घर है। यदि यह बात न होती, तो बताओ महादेवजी सब स्थानो को छोडकर, अपनी ससुराल-हिमालय मे क्यो वास करते और विष्णु भगवान् सब स्थानो को त्याग कर, अपने श्वशुरालय-समुद्र मे ही क्यो शयन करते ?

३५६

कमले कमला शेते हरः शेते हिमालये ।
हरिः क्षीरोदधौ शेते मन्ये मत्कुणशंकया ।।

भावार्थ :—लक्ष्मीजी कमल मे, महादेवजी हिमालय मे, विष्णु भगवान् क्षीरसागर मे क्यो सोते है ? इस पर खटमल से सताए हुए किसी कवि की अनोखी सूझ है —"मैं समझता हूँ कि केवल खटमल के डर के मारे ही लक्ष्मी कमल मे, महादेव जी हिमालय मे और विष्णु भगवान् क्षीर-सागर मे शयन करते हैं। क्योकि वहाँ तो खटमल नही पहुँचेगे ?"

३५७

वासः प्रधानं खलु योग्यतायाः
वासोविहीनं विजहाति लक्ष्मीः ।
पीताम्बरं वीक्ष्य ददौ तनूजां
दिगम्बरं वीक्ष्य विषं समुद्रः ।।

भावार्थ —वस्त्र ही से शोभा होती है और वही प्रतिष्ठा का मूल कारण है, बिना वस्त्र के लक्ष्मी भी किसी को नही

पूछती। देखो, समुद्र ने विष्णु को पीताम्बर आदि उत्तम वस्त्र धारण किये हुए देख कर ही, अपनी कन्या लक्ष्मी उन्हे सौंप दी और महादेव को दिगम्बर (नग्न) देखकर केवल विष ही उनको भेट किया।

३५८

रे रे घरट्ट माऽरोदीः कं कं न भ्रामयन्त्यमूः ।
कटाक्षक्षेपणादेव कराकृष्टस्य का कथा ॥

भावार्थः—जांते (चक्की) की घर घर आवाज सुनकर कवि कहता है:—रे घरट्ट (जांते) तुम क्यों रो रहे हो? अरे ये स्त्रियां किस-किसको अपने कटाक्ष मात्र से नहीं घुमाती। फिर तुझे तो स्वय अपने हाथों से ही चक्कर खिला रही हैं। तेरी क्या बात है!

३५९

अधः पश्यसि किं वृद्धे पतितं तव किं भुवि ।
रे रे मूढ़ न जानासि गतं तारुण्यमौक्तिकम् ॥

भावार्थः—एक मसखरा किसी बुढिया से, जो कमर झुकाये हुए चल रही है, मजाक के तौर पर पूछता है:—"ऐ वृद्धे, कमर झुकाए हुए तू नीचे क्या देख रही है? क्या ज़मीन पर तेरा कुछ गिर गया है, जिसे तू ढूढ रही है?" इस पर बुढिया भी व्यगभरा जवाब देती है:—"रे मूर्ख, क्या तू नहीं जानता कि मेरी जवानी रूपी मोती गिर पडा है, उसी को

ढूँढ रही हूँ।" इसी भाव का एक फारसी का शेर भी है :—

चेरा खम् कर्दा भी गश्तन्द पीराने जहा सायव।
मगर दर खाक भी जूयन्द ऐय्यामे जवानीरा॥

३६०

मृता मोहमयी माता जातो ज्ञानमयः सुतः।
सूतकं वर्त्तते नित्यं कथं सन्ध्यामुपास्महे॥

भावार्थः—एक मनुष्य ने किसी वेदान्ती से पूछा कि तुम सन्ध्या क्यों नही करते? इस पर वह उत्तर देता है:—मेरी मोह रूपी माता मर गयी है और मेरे ज्ञानरूपी पुत्र पैदा हुआ है। रोज तो मुझे सूतक लगा रहता है, फिर सन्ध्या कैसे करूं?

३६१

को न याति वशं लोके मुखे पिण्डेन पूरितः।
मृदंगो मुखलेपेन करोति मधुरध्वनिम्॥

भावार्थ—किसी का पेट भर दीजिये, या घूस दे दीजिये, तो वह कैसा आपके वश मे हो जाता है और आप जैसा कहें वैसा बोलने लगता है—इसो बात को व्यगरूप मे कवि ने इस प्रकार कहा है—मुख को यथेष्ट उपहार से भर देने पर, कौन ऐसा है जो वश मे नही हो जाता? मृदग को ही देखो, उसके मुख पर आटे का लेप करने से, वह कैसी मीठी बोल निकालने लगता है।

३६२

श्रुत्वा षडाननजनुर्मुदितान्तरेण
पंचाननेन सहसा चतुराननाय।
शार्दूलचर्म भुजगाभरणं सभस्म
दत्तं निशम्य गिरिजाहसितं पुनातु ॥

भावार्थः—घर में बालक षडानन (छः मुख वाला कार्तिकेय) पैदा हुआ है यह सुनकर पंचानन (पांच मुख वाले महादेवजी) अतीव प्रसन्न हुए और खुशी में भरकर उन्होने थोड़ा-सा भस्म, व्याघ्रचर्म और सर्परूपी आभूषण चतुरानन (चार मुख वाले) ब्रह्मा को उपहार के रूप मे भेट किया। इसके सिवा दिगम्बर के पास और था ही क्या ? यह सुनकर, गिरजा पार्वती हँस पड़ी। उनका यह हँसना मंगलकारी हो !

३६३

चतुरः सखि मे भर्त्ता
स यल्लिखति तदपरो न वाचयति।
तस्मादप्यधिको मे
स्वयमपि लिखितं स्वयं न वाचयति ॥

भावार्थः—दो सखियाँ आपस में अपने अपने पति की चतुराई की प्रशसा कर रही हैं। एक कहती है कि मेरा पति ऐसा होशियार है कि वह जो लिख देता है, उसे दूसरा कोई नहीं

बाच सकता । इस पर दूसरी सखी कहती है कि इसमें होशियारी की क्या बात है ? मेरा पति तो ऐसा चतुर है, कि अपना लिखा स्वय आप भी नही बाँच सकता, दूसरे की बात ही क्या है ?

३६४

बिलाद्बहिर्बिलस्यान्तःस्थितमार्जारसर्पयोः ।
मध्ये चाखुरिवाभाति पत्नीद्वययुतो नरः ॥

भावार्थः—दो पत्नी वाले मनुष्य की कैसी दुर्दशा होती है, इसका वर्णन इस श्लोक मे है—दो पत्नियों के बीच मनुष्य की दशा उस चूहे के समान होती है, जिसकी बिल के बाहर बिल्ली ताक मे बैठी हुई है और बिल के भीतर साँप उसे खाने के लिये तैयार है, न वह इधर जा सकता है, न उधर ।

३६५

उष्ट्रकाणां विवाहेषु गर्दभाः स्तुतिपाठका. ।
परस्परं प्रशंसन्ति अहोरूपमहो ध्वनिः ॥

भावार्थः—दो मूर्ख और मिथ्याभिमानी पुरुष आपस मे क दूसरे की किस प्रकार प्रशसा करते हैं, इसको व्यग रूप मे वि कहता है—ऊँट जैसे सुन्दर आकृति वाले के विवाह मे, उसके अनुरूप ही स्तुतिपाठ करने वाले भी होने चाहिएं । इसलिए अत्यन्त मधुर स्वर मे गाने वाले गदहे स्तुतिपाठ करने के लिए

बुलाये गये। अब दोनो को जोड़ी बैठ गयी और एक दूसरे की प्रशसा करने लगे। गदहो ने ऊँटो की प्रशसा मे कहा कि "वाह क्या सुन्दर रूप भगवान् ने आपको दिया है!" और ऊंटो ने गदहो की प्रशसा मे कहा कि "वाह क्या सुरीली आवाज आपने पायी है!"

३६६

चिता प्रज्वलितां दृष्ट्वा वैद्यो विस्मयमागतः।
नाऽहं गतो न मे भ्राता कस्येदं हस्तलाघवम् ॥

भावार्थ—किसी के शव को चिता पर जलते हुए देख, आश्चर्य मे भरकर एक वैद्य कहता है—इसकी चिकित्सा करने के लिए न तो मैं गया, न मेरा भाई गया, फिर यह किसके हाथ का चमत्कार है? किसके हाथ से इसको रोग से मुक्ति हुई? रोग भी जाता रहा और साथ ही रोगी भी जाता रहा!